ISSN 2229-6328

भाग षट्त्रिंश प्रथम-द्वितीय खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका



वैदिक विमर्श

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भागः षट्त्रिंश प्रथम-द्वितीय खण्ड

वैदिक विमर्श

प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु | **डॉ. वाचस्पति मिश्र**

मूल्याङ्कनकर्त्ता

प्रो. श्रीवत्स शास्त्री
दि०वि०वि० दिल्ली

प्रो. विनय कुमार
गु०का०वि०वि० हरिद्वार

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

जनवरी-जून २०२१ | **मूल्य २००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

- स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,
मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)
दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:
pavamani86@gmail.com

- **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८
भाग: षट्त्रिंश, प्रथम-द्वितीय खण्ड
जनवरी-जून २०२१

- प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

- मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

- प्रेरणास्रोत :

प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

- प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

- सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु
०९८३७६४७४२७

डॉ. वाचस्पति मिश्र
०९३१९००२४०२

- **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२२ गते
- **सृष्टि आदितः** १,९६,५८,८५१२२ गते
- **युगाब्द** ५१२२
- **दयानन्दाब्द** १९५

सम्पादकीयम्

विकास के उच्च शिखरों को प्राप्त करने हेतु मनुष्य को सदैव साहित्य की आवश्यकता रही है क्योंकि साहित्य के ही आधार पर विश्व की समस्त संस्कृतियों का समुचित विकास हो पाया है। दुर्भाग्य से कालान्तर में सभी संस्कृतियाँ लुप्तप्रायः हो गईं, जबकि हमारी भारतीय विश्ववारा संस्कृति अद्यावधि सुरक्षित है क्योंकि इस संस्कृति के पीछे एक सशक्त, प्राणवान् और सक्षम विचारधारा थी। इसी सशक्त, प्राणवान् विचारधारा का नाम वेद है।

वेद, मात्र संहिताओं या मन्त्र समूह का ही वाचक नहीं है अपितु भारतीय सारस्वत साधना का उद्गम स्थान है, उत्कृष्ट ज्ञान का मूलस्रोत है। हमारे सभी के हृदयकुञ्ज में प्रारम्भ से ही वेदों के प्रति असीम आस्था और श्रद्धा का भाव रहा है और युगान्त पर्यन्त सदा रहेगा भी। हमारे भारतीय मनीषी एक ओर वेद को शब्दप्रमाण और परमप्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं तो कुछ शास्त्रकार सनातन चक्षु के रूप में वेद की सार्थकता सिद्ध करते हैं। इस तरह सर्वज्ञाननिधि के रूप में, धर्म के मूल रूप में और सर्व सत्य विद्याओं के पुस्तक के रूप में वेदों की महत्ता सर्वविदित है।

वेदों के ज्ञान को नित्य, शाश्वत, सत्यस्वरूप और सर्वथा उपकारक मानने के पीछे मूल कारण है वेद का मानवविशेष, स्थानविशेष,

कालविशेष, घटनाविशेष या इतिहासविशेष के वर्णन से रहित होना। यही विशेषता विश्व के सभी ग्रन्थों से वेद की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करती है। अत: एव वैदिकज्ञान को सार्वकालिक, सार्वभौम और सार्वजनीन माना गया है। यह ज्ञान न तो नष्ट होता है और न ही पुराना होता है- **देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति**। सृष्टि के उषाकाल से ही मनुष्यमात्र वेदों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार से पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति करता आया है। वेदों के उपायप्रदर्शक होने के कारण ही महर्षि वेदव्यास कहते हैं-

वेदा मे परमं चक्षु: वेदा मे परमं बलम्।
वेदा मे परमं धाम वेदा मे ब्रह्म चोत्तमम्॥

इस तरह वेद ज्ञान, विद्या, कला और विज्ञान का महाकोष है। इस अक्षयकोष में ब्रह्मविद्या, अग्निविद्या, सूर्यविद्या, पराविद्या, अपराविद्या, शिल्पकला, नृत्यकला, संगीतकला, ज्योतिर्विज्ञान, खगोलविज्ञान, विमानशास्त्र और न जाने कितने ही विज्ञान और शास्त्र बीजरूप में विद्यमान हैं - **वेदेषु किन्न विद्यते?** इस प्रकार वेदों को मानवमात्र के अभ्युदय एवं नि:श्रेयसरूप अत्यन्त सुख की सञ्जीवनी मानना अतिश्योक्ति नहीं कहा जाएगा।

भारतीय विद्वान् नास्तिक शब्द को वेद से जोड़ते हुए वेद को न मानने वाले को नास्तिक कहते हैं - **नास्तिको वेदनिन्दक:।** वैदिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत, सामाजिक स्तर पर, राष्ट्रीय दृष्टि से और वैश्विक परिप्रेक्ष्य में विश्व के सभी मनुष्यों के सर्वांगीण विकास करने का रहा है। वैदिक चिन्तन विश्व को एक परिवार के रूप में स्वीकार करता है- **यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।** इस प्रकार मानवीय गुणों के उत्कर्ष की प्राप्ति का निर्झर वेदरूपी गिरिमाला से ही स्यन्दित हुआ है। जिस प्रकार कोई

धनुर्धर लक्ष्यवेध करने हेतु उसकी प्रत्यञ्चा को प्रथम पीछे की ओर खींचता है और बलपूर्वक उस पर चढ़ाए हुए तीर को आगे छोड़कर दूर से दूर लक्ष्य को सरलता से प्राप्त कर लेता है इसी प्रकार आधुनिक जितने भी विषय हैं, जितना भी विज्ञान है उसको यथावत् समझने हेतु हमें पुनः पीछे की ओर अर्थात् वेदों की ओर लौटना ही होगा; तभी हमारा विकास सम्भव हो पाएगा। इसके अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं है - **नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय।**

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के निर्माण के साथ जब शिक्षाजगत् इस शिक्षा नीति को क्रियान्वयन की तरफ आगे लेकर जा रहा है ऐसे में शिक्षा नीति में निर्दिष्ट सन्दर्भ भारतीय प्राचीन शास्त्रों के पठन-पाठन हेतु प्रेरित कर रहे हैं, ऐसे में हमें पुनः वेदों और उसमें निहित ज्ञान को सर्वजनसुलभ और नए दृष्टिकोण से देखने तथा लोगों के समक्ष प्रस्तुत करने का एक स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ है। वेद के मन्त्रों में निहित ज्ञान को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से जोड़ते हुए हमें वेदों की उपादेयता को सिद्ध करने की अत्यन्त आवश्यकता है। आज वेदों को न जानना, न समझना और वेदानुकूल श्रेष्ठ आचरण न करना समग्र मानव जाति के लिए घातक सिद्ध हो रहा है, जिसका परिणाम सम्पूर्ण विश्व भुगत रहा है। भौतिकता की चकाचौंध में निमग्न सम्पूर्ण विश्व पिछले एक-दो वर्षों से कोरोना के विकराल स्वरूप से हताहत है, ऐसे में समग्र विश्व भारत और हमारे प्राचीन शास्त्रों की ओर आशापूर्ण दृष्टि से देख रहा है। ऐसी स्थिति में वेदादि-शास्त्रों का पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण तथा उसका अनुकरण हमारा परम कर्तव्य बन जाता है। हम इस पतित पावनी श्रुति की यथासम्भव रक्षा करें, प्रचार-प्रसार करें और इस नित्य ज्ञान को सर्वजन सुलभ बनाएँ। मनुष्य इस पावमानी वेद-गङ्गा में स्नान कर अपने दुर्लभ

मानवजन्म को सार्थक करते हुए इस भूमण्डल पर सुख, शान्ति, आनन्द और प्रेम का साम्राज्य स्थापित करे, ऐसी मङ्गल कामना करते हैं।

पावमानी के पिछले अङ्क जहाँ ब्राह्मण, आरण्यक आदि ग्रन्थों में निहित अज्ञात विषयों के रहस्यों को उद्घाटित करने में सफल रहे हैं तथा उन ग्रन्थों के स्वाध्याय और संशोधन के फलस्वरूप मधुपर्क के रूप में प्राप्त लेख वेदजिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा के शमन में सार्थक सिद्ध हुए हैं। पावमानी का यह नवीन अङ्क वेद, उपनिषद् और ब्राह्मणसम्बद्ध भिन्न-भिन्न विषयों को प्रस्तुत कर रहा है, जो अत्यन्त हर्षप्रद है। वैदिक साहित्य के प्रति श्रद्धधान सामान्यजनों के तथा अनुसन्धित्सु छात्रों के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा और इन लेखों के माध्यम से पाठक वेदों को और गम्भीरता से समझ पाएंगे, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है।

प्रो. सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सूर्य का स्वरुप

प्रो. सोमदेव शतांशु[१]

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता से सम्बन्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण में विविध यज्ञीय कर्मकाण्डों के विवेचन के साथ अनेक ज्ञान-विज्ञान के सूत्र अनुस्यूत हैं। इस शोधपत्र में तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित सूर्य का स्वरूप विवेचित किया जा रहा है। वैदिक साहित्य में सूर्य के इक्कीस पर्यायवाची शब्द उपलब्ध[२] होते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में सूर्य[३] के लिये प्रमुखतः सूर्य एवं आदित्य[४] शब्द प्रयुक्त हुये हैं।[५] प्रसंगतः तरणि, केतु,[६] अर्क,[७] सूर,[८] आदि आदित्यवाचक शब्द भी उपलब्ध होते हैं। सूर्य के वैशिष्ट्य को स्थापित करने वाले अनेक विशेषण भी प्राप्त होते हैं। जिनका विवेचन आगे किया जायेगा।

वैदिकवाङ्मय में एक शब्द के शतशः पर्यायवाची शब्द उस वस्तु के

---

[१] **विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काँगड़ी वि. वि. हरिद्वार, उत्तराखण्ड।**

[२] आदित्यः, उषाः, सूर्या, वृषाकपी, त्वष्टा, भगः, सूर्यः, पूषा, विष्णु, आदि निघण्टु ५/ ६।

[३] तै. ब्रा. १/७,५/२,२/८,६/९।

[४] तै. ब्रा. १/२/३/४, १/२/५/२।

[५] दरेऽर्थस्तरणिर्भाजमानः वही - २/८/७/६।

[६] उषः केतुना जुषताम्। वही, १/४/४/५।

[७] वही, १/१/८/९।

[८] संसूर आजनयञ्ज्योतिरिन्द्रियम्, वही - २/७/१३/२।

विविध गुण को वैशिष्ट्य को ज्ञापित करने के लिये प्रयुक्त हुये हैं। इसी से विविधज्ञानमयता परिलक्षित होती है। सूर्य के विशिष्ट शब्दों की आचार्य यास्क ने सूर्य शब्द का निर्वचन करते हुये लिखा है-

सूर्यः सत्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा।[९]

जो गतिमान् है, जो सब का उत्पादक एवं प्रेरक है एवं जो सम्यग् रूप से गति कराता है। सूर्य की इस विशेषता को पुष्ट करने वाले अनेक प्रमाण तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं अन्यत्र वैदिकसाहित्य में उपलब्ध हैं। यजुर्वेद एवं ऋग्वेद में वर्णित है कि सूर्य गतिमान् है।[१०] ऋग्वेद में कहा है कि सूर्य रथचक्र के समान गतिशील है।[११] आधुनिक विज्ञान सूर्य को आज तक स्थिर मानता है। यह बात विचारणीय है। आदित्य पद की व्युत्पत्ति सूर्य की अनेक विशेषताओं को द्योतित करता है, सूर्य अपनी किरणों से पृथिवीस्थ रसों को ग्रहण करता है, ज्योतिर्पिण्डों के प्रकाश को ले लेता है, प्रकाश से दीप्त है एवं अदिति से उत्पन्न है।[१२] विष्णु शब्द भी सूर्य का वाचक है। सब चराचर जगत् में अनुप्रविष्ट व्याप्त होने से सूर्य विष्णु है।[१३] इस विषय पर भगवद्दत्त वेदालंकार की विष्णु देवता की सम्पूर्ण पुस्तक विष्णु के स्वरूप को व्याख्यायित करता है। सूर्य प्रत्यक्ष विष्णु है, जगद्धारक विष्णु शक्ति से एक है।[१४] तैत्तिरीय ब्राह्मण में आदित्य पद की व्युत्पत्ति करते हुये कहा है- प्रजापतिरूपी अश्व के द्वारा युद्ध में विजयप्राप्त

---

[९] निरुक्त - १२/२/१४, सृ - गतौ, सुप्रेरणैश्वर्ययोः, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, सु - इर गतिक्षेपणयोः।

[१०] समाववर्त्ति पृथिवी समुषा समु सूर्यः, समुविश्वमिदं जगत्। यजु. २०/२३।

[११] स सूर्यः ववृत्याद् रथ्येव चक्रा, ऋ. १०/८९/२।

[१२] आदित्यः कस्मादादत्ते रसानादत्ते भासं ज्योतिषां मादीप्तो मासेति अदितेः पुत्र इति वा - निरुक्त - २/१३/३।

[१३] यद् विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति - विशतेर्व - व्यश्नोतेर्वा, १२/१८।

[१४] विष्णुदेवता, - पृ. ८।

कर असुर को प्राप्त किया, अतः वह आदित्य है[१५] तथा अदिति के पुत्र होने के कारण आदित्य है।[१६] सूर्य ने सृष्टि के क्रम में इन्द्र को उत्पन्न किया, उसे अमर, सुन्दर, वीर्य सम्पन्न देख सुवीर्य व सम्प्रसारण कर सूर्य कहा गया।[१७] इत्यादि प्रसंगों में भी सविता प्रसवानामधिपतिः,[१८] यही तथ्य प्रभावित होता है। सूर्य से ही समस्त जगत् प्रसूत है। सूर्यसिद्धान्त में भी यही तथ्य प्रतिपादित है- **आदित्यो हि आदिभूतत्वात् प्रसूतः सूर्य उच्यते।** पुराणों में भी यही तथ्य अनुमोदित है कि अन्य ग्रहनक्षत्रों की प्रतिष्ठा तथा उत्पत्ति सूर्य द्वारा ही होती है। इस सूर्य की उत्पत्ति के प्रसंग में तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति ने देवताओं को उत्पन्न करने की इच्छा से पहले अग्नि को उत्पन्न किया। तदनन्तर प्रजापति को मृत्यु भय हुआ तो प्रजापति ने आदित्य को उत्पन्न किया । इस क्रम में आगे कहा है - आदित्यरूपी अग्नि की आहुति देकर वह प्राङ्मुख चला गया, जिस प्रकार आदित्य की आहुति सतत स्वयं चलती रहती है, इस तथ्य को जो जानता है, वह मृत्यु से मुक्त हो जाता है।[१९] इस प्रसंग का आशय यह है कि सृष्टि यज्ञरूप है, यजुर्वेद के ईक्कीसवें अध्याय में यह सविस्तार व्याख्यात है। प्रजापति अग्नि में आहुति द्रव्य न प्राप्तकर सूर्य को ही अग्नि में आहुति कर यज्ञक्रम को प्रवर्तित कर प्राङ्मुख हो चला गया। सूर्य स्वयं यज्ञमान एवं यज्ञस्वरूप है, अतः जो विद्वान् सूर्य के इस रूप को समझते हुये अपने जीवन को सूर्यानुरूप बना लेता है- उसका किसी कारण से अग्निहोत्र

---

[१५] यदसुराणां लोकानादत्त । तस्मादित्यो नाम । तैत्तिरीयः ब्रा. ३/९/२१/२।

[१६] तं यदस्या अध्यजनयत्, तस्मादादितयः, वही - १/५/१०/१।

[१७] तं देवा अब्रूवन्। सुवीर्यो मर्या यथा गोपायत इति। तत्सूर्यस्य सूर्यत्वम्, वही, २/२/१०/४।

[१८] अथर्व. ५/२४/१।

[१९] स मृत्योरबिभेत्। स अमुमादित्यात्मनो निरमिमीत। तं हुत्वा पराङ्पर्यावर्तत्त। ततो वै समृत्युमपाजयत्। अपमृत्युं जयति। य एवं वेद। वही, २/१/६/५।

बाधित भी होता है तो वह अपमृत्यु को प्राप्त नहीं होता ।[२०] सूर्य की अवस्थिति के सम्बन्ध में कहा है - समस्त जगत् सूर्य से परिवृत है[२१] क्योंकि यह स्वयं यज्ञरूप है, समस्त भुवनों का धर्ता है, पालक है,[२२] सूर्य यज्ञ जैसे जीवन रक्षक है।[२३] सूर्य वायुमण्डल संशोधक है,[२४] प्रदूषणनाशक है, यह सूर्य संसार को प्राणशक्ति प्रदान करता है तथा अपानरूप कार्बनडाई आक्साइड को छोड़ा करता है ।[२५] इस प्रकार सूर्य स्वयं यज्ञरूप है , सूर्य के इस रूप को हृदयंगम कर तदनुरूप आचरण करता है, वह कदापि अपमृत्यु को प्राप्त नहीं होता, पूर्णायु ही होता है। यज्ञ का तात्पर्य है- सूर्य को भुवन का धारक, यज्ञरूप तथा विश्व के प्राणशक्ति प्रदाता कहने का आशय अत्यन्त गूढ़ एवं व्यापक है । यह समस्त ब्रह्माण्ड अग्नीषोमात्मक है।[२६] सूर्य और चन्द्रमा अग्नि एवं सोम के रूप में हमारे इस सौरमण्डल के समस्त स्थावर जंगम को विविध रूप में धारण एवं पोषण कर रहे हैं। सूर्य जहाँ जीवन एवं प्राणशक्ति का आधार है, वहीं चन्द्रमा ओषधि वनस्पतियों में पोषण प्रदानकर अमृतत्व का आधायक है। कूर्म-पुराण में सूर्य के विषय में कहा गया है कि सूर्य की ऊर्जा से ही समस्त नक्षत्र एवं तारागण वर्धित एवं आव्यापित होते हैं।[२७] सूर्य सप्तविध

---

[२०] द्रष्टव्य तै. ब्रा, २/१/६/५, सायणभाष्यम्।

[२१] समुसूर्य, तै. ब्रा. २/६/६/५।, धर्ता दिवो भुवनस्य विश्वपतिः। सामवेद, १८४५।

[२२] आदित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुमौ, अथर्व. ८/२/१५।

[२३] सविता पुनातु अद्रिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मभिः। यजु. ४/४।

[२४] उत पुरस्तात् सूर्य एति दृष्टान् चघ्नन् अदृष्टान् च, सर्वान् च प्रमृणन् कृमीन्। अथर्व. ५/२३/६।

[२५] अन्तशचरति रोचनास्य प्राणदपानती, यजु. ३/७।

[२६] अग्नीषोमात्मकं जगत् शतपथ ब्राह्मण।

[२७] एवं सूर्य प्रभावेण सर्वा नक्षत्रतारकाः।
वर्धन्तये वर्धिता नित्यं नित्यमाप्यायन्ति च॥ कूर्मपुराणम् १/४१/९।

रश्मियाँ सुषुम्ना, हरिकेश, विश्वकर्मा, विश्वव्यच, संयदसुरत अर्वावसु एवं स्वराट् क्रमशः चन्द्र, नक्षत्र बुध, शुक्र, मंगल, गुरु, एवं शनि ग्रहों को पोषित एवं प्रकाशित करती है। सूर्य के सप्तरश्मिजन्य सप्तवर्ण जीवन को जगत् को किस-किस तरह प्रभावित करते हैं, यह सर्वविदित तथा बहुवर्णनापेक्ष्य है।[२८] सूर्य को सहस्रांशु तथा सहस्ररश्मि कहा जाता है, कूर्मपुराण में इसकी हजार किरणों का भी वर्णन प्राप्त होता है। उक्त सप्तरश्मियों के वृष्टि सर्जनाड़ी अमृतनाड़ी[२९] के चार भेद वन्दना, यज्या, केतना एवं भूतना सौ सौ रश्मियों को मिलाकर चार सौ रश्मियों हिमसर्जना नाड़ी[३०] के चन्द्र, मेष, पौष्य, हलादित्य, की सौ सौ रश्मियाँ मिलाकर, तीन सौ रश्मियाँ धर्म सर्जना नाड़ी[३१] के ककुभः, गावः, विश्वभृतः की सौ सौ रश्मियाँ मिकाकर तीन सौ रश्मियाँ इन सब को मिलाकर एक सहस्र किरणें, वर्षा, हिम, एवं धर्म के द्वारा भुवन का पालन संर्वधन पोषण आदि के द्वारा सृष्टि यज्ञ को प्रवर्तित कर रही है। आधुनिक विज्ञान को इन तथ्यों का अन्वेषण करना है।

इस प्रकार मानव शरीर में इड़ा पिङ्गला नाड़ी के रूप में[३२] सूर्य चन्द्र सम्पूर्ण मानव देह की भावनाओं को पोषित एवं नियन्त्रित कर रहें हैं, जिनका विस्तृत वर्णन योगशास्त्रों में देख जा सकता है। इस प्रकार सूर्य विविध रूप में जगद्धारक, प्राणधारक एवं पोषक है। ऐसा जानने वाला

---

[२८] सुषुम्नो हरिकेशश्च विश्वकर्मा तथैव च।
विश्वव्यचाः ततश्चान्यः संयदूसुरतः परः॥
अर्वावसुरिति ख्यातः स्वराऽन्यः प्रकीर्तितः।
सुषुम्नः सूर्यसश्मिस्तु पुष्णातिशिशिरद्युतिम्॥ कूर्मपुराणम् - १/४१/३-४।

[२९] कूर्मपुराण, १/४१/११/१२॥

[३०] कूर्मपुराण, १/४१/११/१२।

[३१] वही, १/४१/१३।

[३२] वही, १/४१/१४।

कभी अपमृत्यु को नहीं प्राप्त होगा, यही इस प्रसंग का निहितार्थ है। आदित्य का निर्माण कर प्रजापति का प्राङ्मुख लौट जाना भी यही संकेत करता है कि यज्ञरूप सृष्टिचक्र को चलने के लिये आदित्य पर्याप्त है, वह सब संभाल लेगा। जैसे किसी सुयोग्य पुत्र या उत्तराधिकारी से गुरुजन क्रिया से निवृत्त हो जाते हैं। सूर्य की उपस्थिति के सम्बन्ध में कहा गया है कि समस्त जगत् सूर्य आवर्तनशील है।[३३] यह सूर्यमण्डल को गतिमान् एवं संकेतित कर रहा है, शतपथ ब्राह्मण में इस सम्बन्ध में विस्तार से उल्लेख है।[३४] इसका द्युलोक, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी लोकों को अपने तेजस से प्रकाशित करता है।[३५] इसका स्थान परमव्योम भी माना गया है।[३६] सूर्य शब्द की व्युत्पत्ति आचार्य यास्क सृ गतौ से सर्ति इति सूर्य करते हैं। सूर्य की गतिशीलता को प्रमाणित करने वाले अनेक सन्दर्भ तैत्तिरीय ब्राह्मण में विद्यमान है। **सूर्य एकाकी चरति**[३७] **असौ वा आदित्य एकाकी चरति**[३८] सूर्य ऊपर को गति करता है[३९], पूषा निरन्तर गतिमान् रथ पर आरूढ होकर विश्व में उगता है अतः ऋतुएँ निष्पन्न होती हैं।[४०] तैत्तिरीय ब्राह्मण सूर्य को निरन्तर गतिशील मानता है।[४१] ज्योतिष के ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में मतभेद है। आधुनिक विज्ञान भी सूर्य को पृथिवी की तुलना में अल्प

---

[३३] इडानाडी स्थितश्चन्द्रः पिङ्गलामानुवाहनि, नरपतिचर्या, हंसचार।

[३४] समाववर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः तै. ब्रा, २/६/६/५।

[३५] ६/७/२/९, ६/७/३/१०, ९/३/१/३६।

[३६] सोमपूषणा रजसोवमानम्- दिव्यन्यं सदनं चक्र उच्च, पूथिव्यामन्योऽध्यन्तरिक्षे, तै. ब्रा., २/८/१/५।

[३७] वही, २/३/३/१ - २।

[३८] तै. संहिता, ७/४/१८।

[३९] आदित्यमेवा स्मा उन्नयति। तै०ब्रा० १/८/२/३

[४०] तै.ब्रा. ३/९/५/४ । शत. ब्रा., १३/२/६/११।

[४१] आदित्यमेवास्मा उन्नयति । तै. ब्रा., १/८/२/३।

गतिमान् मानता है - अतः यह भी विचारणीय विषय है। आदित्य की रश्मियाँ, प्रकाश, उसकी ज्वलनशीलता, वर्ण आदि के विषय में ब्राह्मण-ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन है।

सूर्य के विशेषण -

तैत्तिरीय ब्राह्मण में आदित्य को देवों का व्रतपति[४२], प्रजा[४३], प्रजा के शिरस्थानीय[४४], वाजि[४५], सत्य[४६], हरित[४७], रुक्म[४८] एवं उत्तम ज्योति[४९] के रूप में वर्णत किया गया है।

कर्मकाण्ड - सूर्य देवता विषयक याग आदि अतिगूढ़ हैं। स्वर्गलोक की कामना वाले यजमान को प्रातः अनुवाक पढ़कर याग करना चाहिये- **तं पुरा प्रातरनुवाकादग्नाध्रेऽजुहवुः। ततो वै तौ सुवर्गं लोकमायन्। यः सुवर्गकामः स्यात्।** (यह विषय पृथक् निबन्ध की अपेक्षा रखता है) एवं उदित होते हुये आहवनीय अग्नि में आधान करना चाहिये क्योंकि आदित्य आहवनीय अग्नि है - **अर्धोदिते सूर्ये आहवनीयमादधाति**। इस ब्राह्मण में सावित्रयाग का भी वर्णन है, जिसका विवेचन गम्भीरपाण्डित्य एवं श्रमसाध्य है।

लौकिक दृष्टि से सूर्य से अनेक लाभों का वर्णन किया गया है। उससे समस्त धन, वैभव, सुख की कामना की गयी है[५०]। आदित्यरूपी

---

[४२] सप्तचक्रं रथमविश्वमित्वम् । विषूवृतं , मनसा युज्यमानम्। तै. ब्रा. । २/८/१/५।

[४३] तै. ब्रा., ३/२/८/११ - १२।

[४४] आदित्य नो त्वा - देवानां व्रतपते,तै. ब्रा., १/१/४/८।

[४५] आदित्य वै प्रजाः, वही, १/८/८/१।

[४६] असौ आदित्यः शिरः प्रजानाम् वही, १/२/३/३।

[४७] आदित्यो वाजी, वही, १/६/३/९।

[४८] आदित्यः सत्यमोमिति । वही, २/४/६/७।

[४९] सूर्याय हर्यक्षम्, वही, ३/४/१७/१।

[५०] वही, ३/९/२०/२।

पूषा को धन का संपोषक माना गया है। आदित्य सद्बुद्धि के रक्षक हैं[५१], उनसे रोगादि से मुक्त कर सुस्वास्थ्य एवं दीर्घायु कि प्रार्थना की गयी है[५२]। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में सूर्य की उत्पत्ति, उसका जगदुत्पादकत्व, धारकत्व, पोषकत्व, आरोग्यकारत्व आदि अनेक तथ्य प्रतिपादित है। सूर्य की अवस्थिति उसका गतिमत्व सर्वलोकप्रकाशत्व, उसका तेजस् अग्निमयत्व, बुद्धिप्रेरकत्व, सुख एवं वैभवप्रदातृत्व आदि स्पष्टतः प्रतिपादित है।

---

[५१] आदित्यं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्, वही, ३/७/४/३।

[५२] (क) विश्वा आदित्य अदिते सजोषाः। अस्माकं शर्म बहुलं विचन्त । तै. ब्रा., २/८/६/५।

(ख) रायस्पोषं विष्यतां नाभिमस्मो, वही, २/८/१/५।

(ग) धियं पूषा चिन्वतु विश्वमिन्वः। वही, २/८/१/६।

(घ) शं नस। तपतु सूर्यः, वही, ३/७/१०/५।

उपनिषदों में व्यावहारिक विद्या

डॉ. राकेश शास्त्री, डी. लिट्[1]

'उप' एवं 'नि' उपसर्गपूर्वक √सद् धातु से क्विप् (०) प्रत्यय करके उपनिषद् शब्द की निष्पत्ति होती है। इस शब्द में प्रयुक्त √सद् धातु के आचार्य पाणिनि ने अपने धातु पाठ में तीन अर्थों का उल्लेख किया है-

विशरण- नष्ट होना अर्थात् ये ग्रन्थ संसार की बीजभूत अविद्या को नष्ट करने में समर्थ हैं।

गति- प्राप्ति अर्थात् उपनिषदों को गुरु के समीप बैठकर अध्ययन करने से हमें ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसके माध्यम से अन्ततः मोक्ष (कैवल्य) की प्राप्ति होती है।

अवसादन- शिथिल होना अर्थात् इन ग्रन्थों के अध्ययन से व्यक्ति के दुःख शिथिल होते हैं।

इन्हीं सब अर्थों को दृष्टिगत रखते हुए शंकराचार्य ने इन्हें ब्रह्म-विद्या का द्योतक स्वीकार किया है।[2] यों तो सभी उपनिषद् भारतीय दर्शनों का मुख्य आधार रहे हैं तो भी हम देखते हैं कि ज्ञान-राशि के अथाह भण्डार, व्यावहारिक शिक्षा को अपने में संजोए हुए, ये ही उपनिषद् मनुष्य को

---

१ **सेवानिवृत्त अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, श्री गोविन्द गुरु रा० महा०, बांसवाड़ा**

२ कठोपनिषद्, शांकरभाष्य की प्रस्तावना

उसके जीवन में व्यावहारिक ज्ञान किंवा शिक्षा भी प्रदान करके इस दिशा में उसका मार्गदर्शन करते हैं। इतना ही नहीं निष्काम कर्म की व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करने वाले कर्मशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता का आधार अथाह ज्ञानराशि के भण्डार ये उपनिषद् ही रहे हैं।

वस्तुस्थिति तो यह है कि उपनिषद् ग्रन्थों की सृष्टि हमारे ऋषि-मुनियों द्वारा समाज की प्रथम इकाई एकमात्र व्यक्ति को लक्ष्य करके, उसके सर्वांगीण विकास के लिए, एक स्वस्थ एवं आदर्श समाज की स्थापना करने के लिए की गयी है, क्योंकि जहाँ एक ओर इनमें पुरुषार्थ चतुष्ट्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उच्चकोटिक व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की गयी है, वहीं दूसरी ओर भौतिकता के इस युग में अनेक कारणों से सन्त्रस्त, अशान्त चित्त मानव को उपनिषद् शान्ति का सम्यक् रूप से दिशा-निर्देश करते हुए व्यावहारिक शिक्षा का पाठ भी पढ़ाते हैं। इस प्रकार उपनिषदों की संरचना का एकमात्र उद्देश्य व्यावहारिक दृष्टि से आदर्श समाज का निर्माण करना ही रहा है।

उपनिषदों में तत्कालीन समाज में समरसता और परस्पर सामञ्जस्य बढ़ाने की दृष्टि से अनेक स्थलों पर विद्या-अविद्या, श्रेय-प्रेय, ज्ञान-कर्म, प्रवृत्ति-निवृत्ति, द्वैत-अद्वैत जैसे सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया है, जिसे व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी कहा जा सकता है। जैसे- तैत्तिरीय उपनिषद् का यह कथन इस प्रसंग में प्रमाणरूप में उद्धृत किया जा सकता है-

सदैव सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद मत करो, उन्नति के साधन शुभ कर्मों का सदैव पालन करो तथा निर्दुष्ट कर्म करते हुए सदैव श्रद्धापूर्वक अपने सामर्थ्य के अनुसार दान दो, गुरु की सेवा समर्पित भाव से करो, सन्तति (प्रजातन्तु) की उत्पत्ति से विरक्त न

होओ।[३]

हमारे विचार से केवल इतनी ही व्यावहारिक शिक्षा आदर्श समाज, देश, राष्ट्र यहाँ तक कि विश्व में शान्ति की स्थापना करने में सक्षम है। सम्पूर्ण शिक्षावल्ली में व्यक्ति को जीवन में व्यवहार करने की दृष्टि से पद-पद पर अनेकानेक जीवनोपयोगी निर्देश दिए गए हैं। इसी कारण इन्हें ज्ञान-शास्त्र के साथ-साथ ''**आचार-शास्त्र**'' की संज्ञा प्रदान करने में लेशमात्र भी संकोच उचित नहीं है।

इसी प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ[४] और मुण्डकोपनिषद्[५] में पुनर्जन्म के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया गया है, जिसके भय से व्यक्ति समाज में बुरे कर्मों को करने से स्वयं को बचाता है तथा अच्छे कर्मों में प्रवृत्त होता है-

क्षीणे पुण्ये ततः पुनरावर्तन्ते। ये खलु पृथिव्यां नाना योनिषु जनाः प्रपद्यन्ते मनुष्य जातौ जायन्ते।[६]

अर्थात् अच्छे कर्म करने से व्यक्ति को श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति होती है, किन्तु पुण्य कर्मों के क्षय के बाद कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में उसे पुनः इसी पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है। इसके अलावा जब तक जीव के कर्मों का क्षय ज्ञान-प्राप्ति आदि उपायों से नहीं हो जाता, तब तक उसे बार-बार इसी संसार में आवागमन के चक्र में पड़े रहना पड़ता है। छान्दोग्योपनिषद् का यह कथन भी उक्त कथ्य की पुष्टि करता प्रतीत

---

[३] सत्यं वद धर्मं चर स्वाध्यायान्मा प्रमद आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः (शिक्षा वल्ली, एकादश अनुवाक)

[४] सम्पूर्ण नाचिकेतोपाख्यान कठ०उप० १.३

[५] मुण्डकोपनिषद् १.२.१०

[६] बृहदारण्यकोपनिषद् ५.२.१५१६

होता है-

ये तु तत्त्वज्ञानशून्या अयज्ञाश्च भवन्ति ते पुनः पुनर्मृत्योर्वशमापद्यन्ते ।[७]

वस्तुस्थिति तो यह है कि यहाँ प्रतिपादित व्यावहारिक शिक्षा के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में अनेक अनुचित कर्मों से स्वयं को बचाता है और अच्छे कर्म करने का प्रयास करता है, जिससे समाज में स्वारस्य एवं सामञ्जस्य की स्थापना होती है। इसी प्रकार ईशोपनिषद् में प्रतिपादित सतत कर्म करते हुए जीवित रहने की कामना, सदा ही अन्य सभी जीवों के लिए कल्याणकारी चिन्तन की भावना, समाज के प्रत्येक व्यक्ति तथा प्राणी को, यहाँ तक कि पेड़-पौधों को भी जीवन्तता प्रदान करने वाली उच्चकोटिक व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करती है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।[८]

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम ।[९]

इसी प्रकार विश्व शान्ति के लिए विश्वबन्धुत्व एवं समदर्शिता जैसी उत्कृष्ट भावना को भी व्यावहारिक शिक्षा की दृष्टि से देखा जा सकता है, जिसकी ईशोपनिषद् में इस प्रकार अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।[१०]

अर्थात् सभी प्राणियों में स्वयं की ही परिकल्पना करना, दूसरों को भी अपने समान ही मानकर व्यवहार करना, यदि व्यक्ति उक्त कथ्य किंवा सिद्धान्त को अपने जीवन में उतार ले तो निश्चय ही उसे कभी भी

---

[७] छान्दोग्योपनिषद्

[८] ईशोपनिषद् २

[९] प्रश्नोपनिषद् आदि अनेक उपनिषदों के प्रारम्भ एवं अन्त में प्रयुक्त

[१०] ईशोपनिषद् - ६

अपने साथ दूसरों के दुर्व्यवहार का सामना करना नहीं पड़ेगा। कठोपनिषद् के नाचिकेतोपाख्यान के माध्यम से उपनिषत्कार हमें अनेक प्रकार की समाजोपयोगी व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे-

१. सर्व प्रथम, इस उपनिषद् के मंगलाचरण में गुरु-शिष्य के लिए की गयी मंगलकामना को हम सभी प्राणियों के लिए भी मानकर सर्वथा सुखी और समृद्ध, शान्तिपूर्ण जीवन हेतु व्यावहारिक शिक्षा कह सकते हैं, क्योंकि इस मन्त्र में कठोपनिषत्कार ने परमपिता परमात्मा से गुरु शिष्य दोनों के लिए प्रेमपूर्वक साथ-साथ भोजन करने, साथ-साथ रक्षा करने, साथ-साथ विद्या के प्रसारणरूप पराक्रमादि को प्रदर्शित करने तथा एक दूसरे से कभी भी द्वेष न करने की प्रार्थना की है,[११] जिसे हम सामाजिक जीवन में समरसता लाने के लिए व्यावहारिक शिक्षा के रूप में सहज ही ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि गुरु-शिष्य के परस्पर माधुर्य-पूर्ण सम्बन्ध तथा सहयोग से ही किसी भी सभ्य समाज में सतत् शान्ति एवं उन्नति सम्भव है।

२. इसी प्रकार पिता-पुत्र के परस्पर माधुर्य एवं आज्ञाकारिता पूर्ण सम्बन्धों की शिक्षा की चर्चा भी यहाँ प्राप्त होती है। जब वाजश्रवस् के पुत्र नचिकेता ने देखा कि उसके पिता ने विश्वजित् यज्ञ में अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को तो दान दे दिया, किन्तु सम्भवतः पुत्र-मोहवश कुछ दुधारू गायों को रोककर, वे बूढ़ी गायों को दान में दे रहे हैं, ''जो अब न दूध देने में समर्थ हैं और न ही सन्तति उत्पन्न करने में, यहाँ तक कि वे तो शारीरिक दृष्टि से इतनी अधिक असमर्थ हो गयी हैं कि वे घास के तिनकों

[११] सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै
तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै (कठोपनिषद्, १.१ मंगलाचरण)

का भक्षण भी नहीं कर पा रही हैं।'' इस प्रकार की गायों का दान देने से मेरे पिता को अनन्दा नामक घोरनरक की प्राप्ति होगी।[१२] तभी उसके मन में अपने पिता के इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही हितों को ध्यान में रखते हुए विचार[१३] आया और उसने गम्भीरता से चिन्तन किया -

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥[१४]

उसके पश्चात् अपने पिता के हित-चिन्तन में पुत्र-धर्म का पालन करते हुए, उनके क्रोधादि की चिन्ता न करके, निडरता एवं दृढ़तापूर्वक उसने अपने पिता से पूछ ही लिया कि -

''पिताजी, आप मुझे दान में किसे देंगे?''[१५]

स्पष्टरूप से इस सम्पूर्ण घटना क्रम के नियोजन का उपनिषत्कार का मुख्य लक्ष्य समाज में इसी ''व्यावहारिक शिक्षा'' का संदेश देना है कि यदि समाज में कहीं भी किसी प्रकार की अमर्यादा किंवा अनुचित कार्य किया जा रहा हो तो अपनी आयु, शारीरिक क्षमता तथा अन्य बातों का ध्यान न रखते हुए समाज एवं देश के हित में अपनी आवाज़ अवश्य उठानी चाहिए। यहाँ तक कि उस अपचार को करने वाला भले ही आपका अपना पिता ही क्यों न हो।

३. पिता द्वारा पुत्र की भरण-पोषण की चिन्ता विषयक व्यावहारिक शिक्षा को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि यद्यपि नचिकेता

---

[१२] अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत कठो० १.३

[१३] तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत कठो० १.२

[१४] कठो० १.३

[१५] स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति
द्वितीय तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति कठो०१.४

के पिता ने ''सर्वजित् यज्ञ'' में अपना सब कुछ दान देने का संकल्प कर लिया था, तो भी उसके मन के किसी कोने में कहीं न कहीं यह भावना अवश्य कार्य कर रही थी कि यदि मैंने अपने संकल्प के अनुसार - ''सभी गायों को दान दे दिया तो मेरा छोटा-सा पुत्र नचिकेता दूध कहाँ से पिएगा?''

सम्भवतः यही सोचकर उन्होंने अपने पुत्र के भरण-पोषण के लिए कुछ दुधारू गायों को अपने पास रोक लिया। ऐसी स्थिति में नचिकेता ने पिता के पुत्र मोह को भंग करने के लिए उक्त प्रश्न पूछ ही तो लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि निश्चय ही उसका यह प्रयास पिता के मन से पुत्र मोह को दूर करना ही था। इस प्रकार इस सम्पूर्ण प्रसंग में हमें पिता की पुत्र के प्रति उसके भरण पोषण की व्यावहारिक चिन्ता और शिक्षा की भी प्रतीति ही हो रही है, अन्यथा वाजश्रवस् जैसा विद्वान् ऋषि करणीय और अकरणीय के विषय में नहीं जानता हो, यह बात तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि पिता में कितने भी दुर्व्यसन क्यों न हों, किन्तु अपनी सन्तति व परिवार का भरण-पोषण करना उसका सर्वोच्च एवं पुनीत कर्तव्य है, जिसकी ओर यहाँ संकेत मिलता है।

४. गुरु-शिष्य के माधुर्य एवं स्वारस्य पूर्ण सम्बन्धों की विवेचना भी हमें नचिकेता के शिष्य रूप में तथा यमराज के गुरु रूप में दृष्टिगोचर होती है। इतना ही नहीं यहाँ दोनों ही अपने-अपने स्थान पर अपने वर्ग के प्रतिनिधि रूप में ही प्रस्तुत हुए हैं, क्योंकि प्रायः सभी गुरुओं की प्रबल इच्छा होती है कि उन्हें जिज्ञासु तथा उसके दिए हुए ज्ञान को सहेज कर रखने वाले, शीघ्र ग्रहण करने वाले शिष्य की प्राप्ति हो। इसी कारण वह अनेक प्रकार से नचिकेता को प्रलोभन प्रदान करते हुए ज्ञान पिपासा के

प्रति उसकी दृढ़ता की परीक्षा लेता है-

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके, सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या, न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः॥
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व, नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः।[१६]

इतना ही नहीं सभी परीक्षाओं में उसके उत्तीर्ण होने पर अर्थात् उसकी ज्ञानपिपासा से पूर्णरूप से संतुष्ट होने पर ही ''वरदानों की श्रृंखला'' के साथ वह उसे आत्मज्ञान भी प्रदान करता है।

५. इसके अतिरिक्त इस उपनिषद् में पति-पत्नी के परस्पर कर्तव्य परायण एवं माधुर्यपूर्ण सम्बन्ध, एक-दूसरे को समझने-बूझने की परख तथा उसके अनुसार आचरण करना, परस्पर हित चिन्तन आदि इन सभी बातों की व्यावहारिक शिक्षा भी अत्यन्त उच्चकोटि की देखने को मिलती है, क्योंकि एक श्रेष्ठ एवं आदर्श पत्नी का कर्तव्य है कि वह अपने पति को किसी भी विकट परिस्थिति के उत्पन्न होने पर सही परामर्श दे, जिससे उसका पति किसी समस्या में न पड़े। जिसका यम पत्नी ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक पालन भी किया है तभी तो यमराज के घर वापस लौटने पर वह उससे सर्वप्रथम अतिथि के लिए अर्घ्य आदि सम्पूर्ण पूजन सामग्री आदरपूर्वक ले जाने के लिए कहती है-

तस्येतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्।[१७]

६. गुरु की तन, मन, धन से सेवा करना, उसके प्रति आदर सम्मान के साथ प्रत्येक आवश्यकता का ध्यान रखना, इस व्यावहारिक शिक्षा के

---

[१६] कठो० १.२५

[१७] कठो० १.७

भी इसी उपनिषद् में दर्शन किए जा सकते हैं, क्योंकि यहाँ तो स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि गुरु से अत्यन्त विनम्रतापूर्वक ही जिज्ञासा करनी चाहिए, जिसे नचिकेता के यम के प्रति विनम्र व्यवहारपूर्ण संवाद में सहज ही देखा जा सकता है। तीन दिन से भूखे प्यासे रहने पर भी वह यमराज के प्रति अत्यन्त विनम्र व्यवहार ही करता है।

७. दान की आवश्यकता एवं उसके मानदण्डों की विवेचनापरक शिक्षा के दर्शन भी इस उपनिषद् में किए जा सकते हैं, क्योंकि किसी वस्तु के दान देने से पूर्व हमारे लिए यह आवश्यक है कि उस वस्तु के सम्बन्ध में यह विचार अवश्य कर लें कि जिस व्यक्ति को मैं यह वस्तु दान में दे रहा हूँ, क्या यह वस्तु उसके लिए उपयोगी है? वस्तुतः अपने लिए तथा दान ग्रहण करने वाले के लिए निरुपयोगी वस्तु का दान देना, पूर्णरूप से व्यर्थ है और दानदाता के इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही सुखों का हनन करने वाला है।

८. वैराग्य की अपेक्षा सांसारिक कर्मों को निरपेक्षभाव से करते हुए जीवनयापन करना अर्थात् सांसारिक कर्मों के प्रति निर्लिप्त भाव से प्रवृत्ति, न कि उनसे निवृत्ति का भाव होना। इस शिक्षा के भी हमें इसी उपनिषद् में दर्शन होते हैं, क्योंकि संसार की सृष्टि का संचालन कर्मों के प्रति निवृत्त होने से सम्भव नहीं है, यहाँ तो संसार में रहकर कर्म करते रहने की शिक्षा दी गयी है, जिसे पूर्णरूप से व्यावहारिक शिक्षा के अन्तर्गत रखा जा सकता है, क्योंकि नचिकेता मृत्यु के मुख में जाकर भी यमराज के समक्ष अपने प्रथम वरदान में पुनः संसार में लौटकर इसी सांसारिकता का निर्वहण करता है-

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीतः, औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥[१८]

यहाँ सर्वप्रथम तो उसे यह ज्ञान रहा कि मुझे वापस पिता के पास मृत्युलोक में जाना है, अपने कर्तव्य कर्मों का सम्पादन करना है। द्वितीय, उसे अपने क्रोध के कारण पुत्र-मृत्यु के बाद पिता की मनःस्थिति का भी ध्यान रहा तभी तो उनकी उद्विग्नता को शान्त करने के लिए उसने यमराज से इस वरदान को अपनी पहली प्राथमिकता पर रखा।

९. अतिथि सत्कार की महत्ता रूप ''व्यावहारिक शिक्षा'' का चित्रण तो इस उपनिषद् में अत्यन्त उच्च स्तर पर किया गया है। उपनिषत्कार का स्पष्टरूप से मानना है कि यदि किसी व्यक्ति के घर पर आया हुआ अतिथि और वह भी ब्राह्मण (जिसे यहाँ साक्षात् रूप से अग्नि का स्वरूप बताया गया है,)[१९] भूखा, प्यासा स्थित रहता है अथवा चला जाता है, तो निश्चय ही वह अतिथि, उस व्यक्ति के जीवन की ''आशा'', परिकल्पना जिसके लिए वह अपने जीवन में प्रयत्नशील रहता है, लोकोपकार द्वारा प्राप्त पुण्य कर्मों, (पूर्त) संगत अर्थात् सत्संगति से प्राप्त होने वाले फल आदि सभी को अपने साथ लेकर चला जाता है-

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां, चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो, यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥[२०]

१०. भौतिकता के प्रति पूर्णतया विकर्षण, दूसरे शब्दों में उनमें लिप्त न होना, यहाँ तक कि स्वर्गिक सुखों की भी अपने जीवन में इच्छा न करना, इसे भी वस्तुतः उत्कृष्ट कोटि की व्यावहारिक शिक्षा के अन्तर्गत

---

[१८] कठो० १.११

[१९] वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिब्राह्मणो गृहान् वही१.७

[२०] कठो०१.८

रखा जा सकता है, क्योंकि किसी भी समाज का कल्याण भौतिक सुखों के भोग में नहीं अपितु उनके त्याग में ही निहित है।[२१]

११. सद्गुरु के सान्निध्य को प्राप्त करके उनके मार्गदर्शन में अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'परमात्म-ज्ञान' को प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करना, इसी व्यावहारिक शिक्षा को प्राप्त करके नचिकेता धन्य हो गया। जिसे प्रतिपादित करना उपनिषत्कार का मुख्य उद्देश्य रहा है। जिसे समाज के प्रत्येक व्यक्ति के परम कर्तव्य के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि जीवन में उसका चरम लक्ष्य कैवल्य को प्राप्त करना ही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ये सभी व्यावहारिक बातें हमें कठोपनिषद् के अध्ययन से ही सीखने को मिल जाती हैं। अन्य उपनिषदों का समावेश करने पर यह चर्चा और अधिक विशद हो जाती है। किन्तु विस्तारभय से उसकी चर्चा यहाँ पर नहीं की है।

वस्तुतः भारतवर्ष की प्राचीन धरोहर, ज्ञानराशि के अथाह भण्डार सभी उपनिषदों में हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त मानव-जीवन की सार्थकता के लिए मुख्यता के साथ अनेकानेक व्यावहारिक शिक्षाओं को भी प्रस्तुत किया है, जिनका पालन करके हम एक आदर्श समाज की कल्पना को साकार कर सकते हैं, आवश्यकता केवल इन शिक्षाओं को श्रद्धापूर्वक अपने जीवन में गम्भीरतापूर्वक उतारने की है।

---

[२१] श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतन्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव, तवैव वाहास्तव नृत्यगीते कठो० १.२६

वैदिक साहित्य में प्राण मीमांसा

प्रो. मयूरी भाटिया[१]

मनुष्य शरीर में जीवात्मा के अतिरिक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन है। मन दस इन्द्रियों का चालक है और जीवात्मा तो इस मन के मेले में खोया हुआ है। परन्तु इस सम्पूर्ण सेना के अतिरिक्त एक और वस्तु भी शरीर में है, जिसके बिना न जीवात्मा शरीर में रह सकता है, न ही मन कुछ कर सकता है, न ही इन्द्रियाँ। नेत्र देखने में भी अशक्त हो जाते हैं, कान केवल एक छिद्र मात्र रह जाता है। नासिका होते हुए भी सूँघ ही न सकेगा। रसना खट्टा, मीठा और कड़ुवा कुछ भी चख न सकेगी, जब वह शक्ति शरीर से बाहर हो जायेगी। इस शक्ति का नाम प्राण है। यह जो श्वास-प्रश्वास शरीर में आते जाते हैं, जो न दिन को, न रात को, न जागृत में, न स्वप्न में विश्राम करते हैं, चलते ही रहते हैं, गर्भकाल से लेकर तब तक चलते रहते हैं, जब तक यह मृत्यु के समय शरीर से निकल नहीं जाते। इनका अपना और कोई विषय नहीं, कोई स्वार्थ नहीं। सारे शरीर में निष्काम कर्म का अनुयायी और दूसरों के लाभार्थ निरन्तर कार्य करने वाला योगी तो प्राण ही है। इसीलिये प्राण को शरीर में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

---

[१] **संस्कृत विभाग, भाषा साहित्य भवन, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद**

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है- **प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।**[२] प्राण निःसन्देह सबसे बड़ा और श्रेष्ठ है। छान्दोग्य के इसी स्थल पर यह सिद्ध करने के लिये कि प्राण सबसे मुख्य और सर्वश्रेष्ठ है, मन और इन्द्रियों के कलह की आख्यायिका प्राप्त होती है। तदनुसार एक दिन इन्द्रियों में से वाणी, नेत्र, श्रोत्र इत्यादि ने यह अधिकार जताया कि मैं सबसे बड़ा हूँ। मेरे कारण ही इस शरीर का अस्तित्व है। प्राण ने भी यही कहा। अब इस कलह का निपटारा कैसे हो? तब यह सब विवाद प्रजापति के पास पहुंचा कि हमारा फैसला करो कि हम में से श्रेष्ठ कौन है? प्रजापति ने उत्तर में कहा- **यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते, स वः श्रेष्ठ इति।**[३]

"तुम में से जिसके निकल जाने पर यह शरीर बहुत बुरा सा दिखे, वह तुम में श्रेष्ठ है।" इस फैसले को सुनकर वाणी शरीर से निकल गई, शरीर गूंगा होकर जीवित रहा। नेत्र चले तो, ये शरीर अन्धा होकर जीवित रहा। श्रोत्र गया, तो शरीर बहरा होकर स्थिर रहा। मन चला गया, शरीर शून्यमनस्क होकर जीवित रहा। परन्तु जब प्राण जाने लगे, तो सारा शरीर मृतवत् होने लगा, उसके अभाव में न तो इन्द्रियों का अस्तित्व रहा और न ही मन का। तब सब इन्द्रियों ने एक स्वर हो कर प्राण से कहा-

भगवन्नेधि, त्वन्न श्रेष्ठोऽसि, मोत्क्रमीरिति।[४]

“भगवन्! तुम ही हो, तुम ही हम में से श्रेष्ठ हो, बाहर मत निकलो।”

---

[२] छा.उप. ५.१.१

[३] छा.उप. ५.१.७

[४] छा.उप. ५.१.१२

सृष्टि रचना क्रम में सर्वप्रथम प्राण और रयि की उत्पत्ति हुई।[५] परमेश्वर ने समष्टि प्राण को सूर्य में स्थापित किया-

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥[६]

सूर्य-किरणों के द्वारा यह प्राण अन्तरिक्ष में आता है और पर्जन्य रूप में प्रकट होकर पृथिवी पर बरसता है।[७] पृथिवीस्थ वायु भी प्राण से पूरित इसी के द्वारा होती है। सूर्य के प्रकाश में ही पेड़-पौधे वायु में उपस्थित कार्बन-डायऑक्साइड को ग्रहण करते और प्राणप्रद वायु ऑक्सीजन को प्रदान करते हैं। अन्नादि, ओषधियों और वनस्पतियों में प्राणशक्ति वृष्टि जल द्वारा उत्पन्न होती है।

अथर्ववेद के ११वें काण्ड के चौथे सूक्त का देवता प्राण है। अथर्ववेद के इस सूक्त में कुल २६ मन्त्र हैं। इस सूक्त में प्राण की महत्ता को बहुत ही उत्तम रीति से दिखलाया है। प्राण के इस प्रभावी वर्णन को आधार मानकर प्राण सम्बन्धी अन्य मन्त्र एवं शास्त्रवचनों से प्राणविद्या का चिन्तन करेंगे-

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।

यो भूतः सर्वस्य ईश्वरो यस्मिन् सर्वम् प्रतिष्ठितम्॥[८]

अर्थ- प्राणस्वरूप परमात्मा को बारम्बार प्रणाम है, जिनके वश में यह सब जगत् विश्व है।

---

[५] ऋग्० १.६६.१

[६] मुण्डकोपनिषत् २.३

[७] अथर्व० ११.४.१२

[८] अथर्व० ११.४.१

जो सब सृष्टि का एकमात्र रक्षक स्वामी है। जिसके आश्रय से सब जड़ और चेतन अपने-अपने अस्तित्व को धारण करते हैं। वही पिण्ड और ब्रह्माण्ड का नियन्ता है। उपनिषद् साहित्य के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति का प्रथम तत्त्व प्राण ही है-

स प्राणमसृजत्, प्राणात् श्रद्धा।[१]

सृष्टि रचना की सोलह कलाओं में प्रथम कलाअवयव प्राण ही है। जब तक शरीर में प्राण हैं, तब तक जीवन की सत्ता है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का आधार प्राण तत्त्व है और यह प्राण ईश्वर के अधीन है। शरीर में प्राण के मुख्य पाँच विभाग हैं। मुख्य प्राण अपने को दस भागों में विभक्त कर शरीर की विभिन्न क्रियाओं तथा इन्द्रियों, मन और बुद्धि को सक्रिय बनाये रखता है। प्राण पाँच हैं- प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। ये मुख्य प्राण हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय सूक्ष्म प्राण या उपप्राण कहलाते हैं। इनके स्थान तथा कार्य निम्न हैं-

प्राण

इसका स्थान नासिका से हृदय तक है। नेत्र, श्रोत्र, मुख आदि अवयव इसी के सहयोग से कार्य करते हैं। यह सभी प्राणों का राजा है। जैसे राजा अपने अधिकारियों को विभिन्न स्थानों पर विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्त करता है, वैसे ही यह भी अन्य प्राणों को विभिन्न स्थानों पर विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्त करता है। इसका केन्द्र स्थान हृदय है। श्वास को लेना और बाहर निकालना, खाँसना, भुक्त अन्न का पाचन तथा रसादि धातुओं का निर्माण प्राण का कार्य है। नाभि से ऊपर के सभी कार्य और इन्द्रियाँ प्राण द्वारा ही सञ्चालित होती है।

---

[१] प्रश्नोपनिषद् ६.४

अपान

इसका मुख्य स्थान गुदा और उपस्थ इन्द्रिय माना है। नाभि से लेकर पाँव के तल भाग तक इसकी प्रवृत्ति है। नाभि देश से नीचे गुदा, उपस्थ, जङ्घा, घुटने और कटिप्रदेश में अपान स्थित है। मल, मूत्र, शुक्र और गर्भ को नीचे की ओर ले जाना और बाहर निकालना इसका कार्य है।

समान

नाभिदेश में रहकर पचे हुये रस आदि को शरीर के सब अंङ्गो और नाड़ियों में बांटना इसका कार्य है। इसका मुख्य केन्द्र नाभि स्थल है। यह खाए हुए अन्न को पचाने तथा पचे हुए अन्न से रस, रक्त आदि धातुओं को बनाने का कार्य करता है।

व्यान

यह सारी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियों में गति करता हुआ शरीर के सब अंङ्गो में रुधिर का सञ्चार करता है। यह सम्पूर्ण शरीर में रहता है। हृदय से मुख्य १०१ नाड़ियाँ निकलती हैं। प्रत्येक नाड़ी की १००-१०० शाखाएँ है तथा प्रत्येक शाखा की भी ७२००० उपशाखाएँ है। इस प्रकार कोटि-२ नाड़ी शाखा-उपशाखाओं में यह रहता है। समस्त शरीर में रक्त सञ्चार, प्राण-सञ्चार का कार्य यही करता है तथा अन्य प्राणों को उनके कार्यों में सहयोग भी देता है।

उदान

यह कण्ठ से शिर (मस्तिष्क) तक के अवयवों में रहता है। शब्दों का उच्चारण, वमन आदि के अतिरिक्त यह अच्छे कर्म करने वाली जीवात्मा को उत्तम योनि में व बुरे कर्म करने वाली जीवात्मा को बुरे लोक

(सूअर, कुत्ते आदि की योनि) में तथा जिस मनुष्य के पाप-पुण्य बराबर हों, उसे मनुष्य लोक (मनुष्य योनि) में ले जाता है। यह कण्ठ के केन्द्र में स्थित है। शरीर को उठाये रखना इसका कार्य है। मृत्यु के समय उदान ही सूक्ष्म शरीर को बाहर निकाल कर ले जाता है।

महाप्राण मुख्यतः प्राण-अपान के रूप में श्वास-प्रश्वास के द्वारा शरीर में काम करता है। जब प्राण नाभिकेन्द्र में काम करता है तो उसे समान कहते हैं। यहाँ रक्त से वीर्य तक सभी सार पदार्थों का निर्माण तथा वितरण दोनों कार्य होते हैं। हृदय में प्राण स्वयं कार्य करता है। कण्ठ में प्राण का ही नाम उदान हो जाता है। भोजन को नीचे ले जाना इसी उदान का कर्म है। यहाँ से प्राण का नाम व्यान होता है। व्यान प्राण कान्तियुक्त विशुद्ध वीर्य को आज्ञा चक्र तथा सहस्रार चक्र में प्रज्ञा तक ले जाता है। द्युलोक शरीर में मस्तिष्क ही है । मस्तिष्क का केन्द्र प्रज्ञालोक है, जिसमें दो चक्र, सहस्रार चक्र और आज्ञा चक्र काम करते हैं।

उपप्राण

नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय यह पाँच उपप्राण हैं।

१. नाग- यह कण्ठ से मुख तक रहता है। डकार, हिचकी आदि कर्म इसी के द्वारा होते हैं।

२. कूर्म- इसका स्थान मुख्य रूप से नेत्र गोलक है। यह नेत्र गोलकों में रहता हुआ उन्हें दाएँ-बाएँ, ऊपर- नीचे घुमाने की तथा पलकों को खोलने बन्द करने की क्रिया करता है। आँसू भी इसी के सहयोग से निकलते हैं।

३. कृकल- यह मुख से हृदय तक के स्थान में रहता है तथा जंभाई, भूख, प्यास आदि को उत्पन्न करने का कार्य करता है।

४. देवदत्त- यह नासिका से कण्ठ तक के स्थान में रहता है। इसका कार्य छींक, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा आदि को लाने का है।

५. धनञ्जय- यह सम्पूर्ण शरीर में व्यापक है। इसका कार्य शरीर के अवयवों को खींचे रखना, माँसपेशियों को सुन्दर बनाना आदि है। शरीर में से जीवात्मा के निकल जाने पर यह भी निकल जाता है, फलत: इस प्राण के अभाव में शरीर फूल जाता है। जबकि इसके स्वस्थ एवं बलवान् होने से शरीर स्वस्थ और बलवान् होता है। इसके विपरीत स्थिति में शरीर, रोगी, निर्बल एवं अल्पायु होता है।

आरोग्यदायक आहार, ब्रह्मचर्य और प्राणायाम प्राणों को सबल बनाकर दीर्घायु के हेतु हैं। अनुचित आहार-विहार, विषय-वासना, आलस्य, प्रमाद, लोभ-मोह तथा क्रोध प्राणों के विनाशक हैं। यह शरीर जिस तत्त्व के कारण जीवित है, उसका नाम 'प्राण' है। शरीर में हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियाँ, नेत्र-श्रोत्र आदि ज्ञानेंद्रियाँ तथा अन्य सब अवयव-अंग इस प्राण से ही शक्ति पाकर समस्त कार्यों को करते है। प्राण से ही भोजन का पाचन, रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, रज, ओज आदि सभी धातुओं का निर्माण होता है तथा व्यर्थ पदार्थों का शरीर से बाहर निकलना, उठना, बैठना, चलना, बोलना चिन्तन-मनन-स्मरण-ध्यान आदि समस्त स्थूल व सूक्ष्म क्रियाएँ होती हैं। प्राण की न्यूनता (निर्बलता) होने पर शरीर के अवयव शिथिल व मृतप्राय हो जाते हैं, जो छान्दोग्योपनिषत् में बहुत ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है।

ईश्वर इस प्राण को जीवात्मा के उपयोग के लिए प्रदान करता है। जैसे ही जीवात्मा किसी शरीर में प्रवेश करता है प्राण भी उसके साथ शरीर में प्रवेश करता है और जीवात्मा के शरीर से निकलते ही शरीर से

प्राण भी निकाल जाता है।

ब्रह्माण्ड में पाँच प्राणों का स्थान निदर्शन कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है- ब्रह्माण्ड में सूर्य में प्राण तत्त्व, चन्द्रमा में अपान, अन्तरिक्ष में समान, तेज (विद्युत्) में उदान और पूरे ब्रह्माण्ड में व्यान को जानना चाहिए।

शरीर का तेज शान्त होना, शरीर का ठण्डा होना मृत्यु का लक्षण है। ब्रह्माण्ड में तेज का क्षय सृष्टि विनाश का लक्षण है।

वेद, उपनिषद्, यज्ञ और योग की रीति से प्राण को बहुत अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। अथर्ववेद में पूरक, रेचक, कुम्भक और विषयाक्षेपी चतुर्विध प्राणायाम का उल्लेख है-

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥[१०]

हे प्राण! शरीर में प्रविष्ट होते हुये तुझको नमस्कार है, शरीर से बाहर निकलते हुये तुझको नमस्कार है। स्थिर हो जाने पर तुझको नमस्कार है और आसीन की स्थिति में तुझको नमस्कार है।

वैदिक साहित्य में इस प्रकार प्राण का विस्तृत स्वरूप एवं महत्त्व विशदतया प्रतिपादित है। प्राण की उपादेयता से हम सर्वविध सुख शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

---

[१०] अथर्व११.४.७

वैदिक संहिताओं में शिल्प कला

डॉ० योगेन्द्र कुमार भानु[१]

वेद मानव-मात्र के लिये ज्ञान के अद्वितीय प्रकाश स्तम्भ हैं। मानवीय संस्कृति के विकास में वेदों के ज्ञान का अमूल्य योगदान है। ज्ञानार्थक विद् धातु से भाव, कर्म तथा करण अर्थ में विहित घञ् प्रत्यय के योग से निष्पन्न वेद शब्द ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान का साधन; इन तीनों अर्थों का अभिधायक है। वेदों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई? इस विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं तथापि ''वेद विश्व साहित्य के प्राचीनतम अभिलेख हैं तथा ये अद्वितीय ज्ञान से परिपूर्ण हैं'' इस विषय में संसार के समस्त विद्वान् एकमत हैं।

भारतीय संस्कृति का तो सर्वस्व वेद ही है। भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक चेतना के मूल में वेदों की प्रेरणा विद्यमान है। महर्षि मनु ने इसे समस्त मानवीय कर्तव्यों (धर्म) का मूल स्रोत बताते हुए सर्वज्ञानमय कहा है- **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'' सर्वज्ञानमयो हि सः''**। आचार्य सायण का मानना है कि वेद का वेदत्व इसी में है कि प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा अज्ञेय पदार्थ का वह स्वयं बोध कराता है-

प्रत्येक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

---

[१] अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, बिछीबाड़ा (डुंगरपुर)

वेदों की यह अमर ज्ञान ज्योति मानव धर्म की प्रकाशिका एवं निर्देशिका है। इस ज्योति के आलोक में मानव ने निरीह प्राणी से मानवत्व तक की यात्रा पूर्ण की है। इस यात्रा के पाथेय कर्तव्यों एवं पुरुषार्थों का सुन्दर समन्वय वेदों में प्राप्त होता है। मानव के कर्तव्य जहाँ निःश्रेयस, सिद्धि में सहायक हैं, वहीं उसके पुरुषार्थ अभ्युदय के हेतु हैं। वैदिक ऋषि इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि लौकिक अभ्युदय की यात्रा पूर्ण किये बिना निश्रेयस् की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इन अभ्युदय के साधनों के वर्णन स्थलों पर वेदों में भौतिक विज्ञान, सृष्टि विज्ञान, खगोलीय विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान एवं अनेकविध शिल्पों के सूत्रात्मक तथ्य प्राप्त होते हैं। मनीषियों ने इन्हें आधुनिक विज्ञान का आदिसूत्र माना है। वर्तमान में विश्वस्तर पर आधुनिक वैज्ञानिकों ने इसके महत्त्व को स्वीकार किया है- यह सन्तोष का विषय है।

विश्व विज्ञान का प्रथम आविष्कार- अग्नि खनन

मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसकी सर्वश्रेष्ठता का आधार ज्ञान है। ज्ञानविहीन व्यक्ति को नीतिज्ञों ने पशु के समकक्ष माना है। मानव की श्रेष्ठता के आधारभूत ज्ञान का आदिस्रोत वेद है। सम्भवतः सृष्टि के आरम्भ में निरीह एवं सामर्थ्यहीन मानव ने वेदज्ञान से ही प्रेरणा प्राप्त की होगी-

द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षं समुद्रो योनिः।
विक्षाय चक्षुषा त्वमभितिष्ठ पृतन्यतः॥[२]

अर्थात् हे मर्त्य! तू अपने को छोटा मत समझ। तू विशाल है। विस्तृत द्यौ लोक तेरा पृष्ठ है, पृथिवी तेरा आश्रय स्थान है, अन्तरिक्ष तेरी

---

[२] यजु० ११.२०

आत्मा है, समुद्र तेरी योनि है। खुले हुए नेत्रों से तू देख, तू समस्त परिस्थितियों पर विजयी होगा।

असहाय मानव के जीवन का यह प्रथम प्रेरणा सन्देश था, जिसे आत्मसात् करते हुए मानव ने अपनी विकास यात्रा आरम्भ की तो रुक कर नहीं देखा। वेद ने पुनः कहा कि मर्त्य तू अग्नि है, अग्निपुत्र है, पृथिवी के गर्भ से अग्नि का खनन कर, यह अग्नि तेरी विजय यात्रा का एकमात्र साधन बनेगा। मानव ने वेद की इस द्वितीय प्रेरणा को स्वीकार कर घोषणा की - ''**वयं स्याम सुमतौ पृथिव्याम् अग्निं खनन्तः उपस्थे अस्याः**''[३] - ''हम सब पृथिवी के गर्भ से निरन्तर अग्नि का खनन करते रहेंगे और इस कार्य के लिए मानव समष्टि में सुमति रहेगी।''

अग्नि खनन की घोषणा शिल्पविज्ञान के क्षेत्र में मानव का प्रथम एवं आधारभूत कदम था, प्रारम्भिक चरण था, जहाँ से मानव ने अपनी विकास यात्रा प्रारम्भ की। ऋग्वेद के एक मन्त्र में एक लकड़ी के ऊपर रज्जुयुक्त लकड़ी से मन्थन द्वारा अग्नि को उत्पन्न करने एवं शुष्क घास आदि के संयोग से उसे स्थायी बनाने की प्रक्रिया का वर्णन प्राप्त होता है-

अस्तीदधिमन्थमस्ति प्रजननं कृतम्।
एतां विश्पत्नीमाभराग्निं मन्थाम पूर्वथा॥[४]

आधुनिक विज्ञान के विकास का इतिहास इस अग्नि के खनन एवं मन्थन का इतिहास है। जिस दिन अग्नि का यह यज्ञ समाप्त होगा, वह दिन इस धरातल पर मानव सभ्यता का अन्तिम दिन होगा। मानव को सृष्टि पर अधिकार कराने वाले अग्नि के खनन कृत्य का जिस व्यक्ति ने

---

[३] यजु० ११.२१

[४] ऋग्० ३.२९.१

नेतृत्व किया, यजुर्वेद के अनुसार उस व्यक्ति का नाम अथर्वा आङ्गिरस् था- **पुरीष्योऽसि विश्वम्भरा अर्थवा त्वा निरमन्थदग्ने।**[५]

यजुर्वेद की अग्नि आविष्कर्ता की घोषणा का समर्थन ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है- **त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्घ्नो विश्वस्य बाधतः॥**[६]

अतएव आज भी कर्मकाण्डीय परम्परा में सोमयाग के अग्निमन्थन के समय इस अग्निपुरुष का उक्त मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्मरण किया जाता है। यहाँ ध्यातव्य है कि अथर्वा ने अग्नि का मन्थन पुष्कर जल से किया। जो जल विद्युत् की संकल्पना प्रस्तुत करता है। अग्नि आविष्कार की घटना विश्व विज्ञान का पहला चरण था और वैदिक ज्ञान का प्रथम उन्मेष, जो उसमें निहित शिल्पविद्याओं के तत्त्वों की ओर संकेत करता है।

कृषि शिल्प का अन्वेषण

अकृष्ट भूमि के उपजे अन्न एवं वृक्ष के फलों से जीवन निर्वाह करने के उपरान्त मानव द्वारा व्यवस्थित कृषि का विकास करना मानव इतिहास की अभूतपूर्व घटना थी। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के ५७वें सूक्त में सर्वप्रथम कृषि योग्य शिल्पों का उल्लेख प्राप्त होता है-

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यतां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥[७]
शुनं न फालाः विकर्षन्तु भूमिर्शुनं कीनाशाः अभियन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमर्मासु धत्तम॥[८]

---

[५] यजु० ११.३२

[६] ऋग्० ६.१६.१३

[७] ऋग्० ४.५७.४

इन मन्त्रों में वाहा (बैल), लाङ्गलम् (हल), वरत्रा (रस्सी), फाला (हल की फाली) इत्यादि कृषि उपयोगी शिल्पों की चर्चा करते हुए वैदिक ऋषि ने कामना की है कि हमारे बैल और मनुष्य प्रसन्नतापूर्वक कार्य करें, हमारी क्यारियों में प्रसन्नतापूर्वक हल चलायें, हमारे हल की रस्सियाँ ठीक से बँधी रहें और हमारे अष्ट्रा (चाबुक आदि) ठीक से कार्य करें। हल के फाल भूमि को अच्छी तरह खोदें, हमारे कीनाश (हलवाहे) बैलों के साथ ठीक से चलें। मेघ हमारे लिए मधु और दूध के साथ सुखदायक हों। हे शुनाशीर! हमें सब ऐश्वर्य प्राप्त हों। ऋग्वेद के दशम मण्डल में भी हलों में लोहे के फाल लगाने एवं उनकी सहायता से क्यारियाँ बनाने का वर्णन प्राप्त होता है-

कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।[९]

ऋग्वेद के ही एक मन्त्र में हल में जोतने के लिए बैलों के कन्धों पर रखे हुए जुए का उल्लेख प्राप्त होता है-

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्, धीरा देवेषु सुम्नया॥[१०]

इन मन्त्रों के अतिरिक्त वैदिक संहिताओं में ऐसे स्थल प्राप्त होते हैं, जिनसे सुतराम् सिद्ध है कि कृषि शिल्प का प्रारम्भ इस भारत की पुण्यभूमि पर ही हुआ था। इसके अतिरिक्त कृषि के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य अन्न उत्पादन की खोज है। अन्न का अन्वेषक कौन था? वैदिक संहिताओं में इसका संकेत तो प्राप्त नहीं होता है, किन्तु जिन अन्न नामों का उल्लेख वहाँ प्राप्त होता है, वह महत्त्वपूर्ण है-

---

[८] ऋग्० ४.५७.८

[९] ऋग्० १०.११७.७

[१०] ऋग्० १०.१०१.४

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मे अणवश्च मे श्यामकाश्च मे नीवाराश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥[११]

उक्त मन्त्र में पठित शस्य नाम विश्व की सर्वाधिक प्राचीन शस्य सूची के रूप में उपलब्ध है। इससे भी महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सहस्रों वर्षों के क्रमिक विकास के उपरान्त भी इस खाद्यान्न सूची में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ है। कृषि के उपकरण एवं अन्न का चयन; ये दोनों ही विधायें मानवीय इतिहास के अनुपम अनुसन्धान हैं।

वस्त्र शिल्प की खोज

वस्त्र निर्माण को मानव जाति के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटना माना जा सकता है। वस्त्रनिर्माण को शिल्प की दृष्टि से द्विविध विभाजित किया जा सकता है- १. सूत्र (तन्तु) निर्माण। २. बुनाई से वस्त्र निर्माण।

१. सूत्र (तन्तु) का निर्माण

ऋग्वेद में सूत्र निर्माण के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं-

तन्तु तनुष्व पूर्व्यं यथा विदे।[१२]

तन्तुं तन्वानमुत्तममनुप्रवत आशत। उतेदमुत्तमाय्यम् ॥[१३]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में तन्तुओं के विशेषण के रूप में अदामानः, दामन्वन्तः शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो डोरी एवं उसमें दी गयी एठनों की ओर संकेत करते हैं-

वत्सानां न तन्यस्त इन्द्र दामन्वन्तो अदामानः सुदामन्।[१४]

---

[११] यजु० १८.१२

[१२] ऋग्० ८.१३.१४

[१३] ऋग्० ९.२२.६

इसी प्रकार एक मन्त्र में तीन बार ऐंठे हुए तन्तु का उल्लेख प्राप्त होता है-

तन्तुं तन्वानस्त्रिवृत्तम्।[१५]

२. बुनाई के संकेत

वस्त्रनिर्माण की प्रक्रिया में सूत निर्माण के बाद सूतों की बुनाई का कार्य महत्त्वपूर्ण है। वैदिक संहिताओं में वस्त्रवयन का उल्लेख अनेकशः प्राप्त होता है। यहाँ वस्त्र के लिए वस्त्र एवं वासस् शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है।[१६] अथर्ववेद में ही बुनाई से सम्बन्धित शिल्पों का भी विस्तार से उल्लेख है - वहाँ करघे के लिए 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग हुआ है।[१७] ताने के लिए 'तन्तु' एवं बाने के लिए 'ओतु' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है[१८] तथा करघी के लिए 'तसर' शब्द का प्रयोग हुआ है।[१९] इन धागों को खूटियों की सहायता से ताना जाता है, उनके लिए 'मयूख' शब्द है।[२०] प्रायः वस्त्र शिल्प से सम्बन्धित ये शब्द ऋग्वेद में भी इसी रूप में प्राप्त होते हैं।

वस्त्रनिर्माण का यह कार्य ऊन, सूत एवं रेशम से किया जा सकता है। संहिताओं में सूतीवस्त्र के लिए - **वासांसि**[२१], ऊनी वस्त्र के लिए 'ऊर्णयुम्'[२२] तथा रेशम के धागे से निर्मित वस्त्र के लिए 'तार्प्यम्''[२३] शब्द

---

[१४] ऋग्० ६.२४.४

[१५] ऋग्० ९.६६.३२

[१६] अथर्व ९.५.२५ एवं २६

[१७] अथर्व १०.७.४२

[१८] अथर्व. ९.९.६

[१९] अथर्व. १०.७.४४

[२०] अथर्व. १०.७.४४

[२१] अथर्व. ६.१२४.२., ९.५.२६ एवं १४.१.२७

[२२] यजु० १३.५०

का प्रयोग मिलता है।

ऋग्वेद में वस्त्रनिर्माण के लिए 'वासोवाय' शब्द का प्रयोग मिलता है - **वसोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्।**[२४]

यजुर्वेद में ऊनी वस्त्रों की बुनाई को उत्तम कार्य बताते हुए कहा गया है कि विद्वान् लोग ऊन के धागे से बुनाई करते हैं-

''ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति' ॥''[२५]

ऋग्वेद के दशम मण्डल में १३३वें सूक्त के प्रथम एवं द्वितीय मन्त्र में वृहत् सूत्र यज्ञ के दृश्य का वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ कहा गया है कि इस यज्ञ में सब दिशाओं में तन्तुओं का ताना बाना फैला हुआ है। १०१ देवगण इस कार्य में संलग्न हैं। अनेक अनुभवी वृद्ध पितर इस कार्य का नेतृत्व कर रहे हैं और वे करघे के पास बैठे हुए आदेश दे रहे हैं- अवय (आगे बुनो), अपवय (पीछे बुनो)। प्रथम पुरुष धागे को कभी तानता है और कभी लपेटता है। यह साम गाते हुए अपने त्रसर को आगे पीछे फैंकता है-

यो यज्ञो विश्वतः तन्तुभि : तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः
इमे वयन्ति पितरो या आययुः प्रवयाय वयेत्यासते तते ॥
पुमां एव तनुत उत् कृणन्ति पुमान् वितत्ने अधिनाके अस्मिन्।
इमे मयूरवा उपसेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे ॥[२६]

यद्यपि मन्त्रों में वर्णित यह रूपक अत्यन्त गूढ़ार्थक है तथापि इस आलंकारिक रूपक से वस्त्रवयन के शिल्प पर भी प्रकाश पड़ता है। ऐसा

---

[२३] अथर्व. १८.४.३१

[२४] ऋग्० १०.२६.६

[२५] यजु० १९.८०

[२६] ऋग्० १०.३०.१२

ही एक आलंकारिक रूपक अथर्ववेद में भी प्राप्त होता है।[२७] वस्त्रवयन क्रम में अथर्ववेद में स्त्रियों के द्वारा वस्त्र बुनने का विस्तार से वर्णन है। एक मन्त्र में कहा गया है कि माता अपने पुत्र को हाथ से बुने हुए वस्त्र पहनाये- **वस्त्रा पुत्राय मातरो वियन्ति।**[२८] यहाँ वैदिक ऋषि स्पष्ट कहता है कि माता के द्वारा बुने वस्त्र का ताना ऐश्वर्य देने वाला एवं बाना पुष्टि देने वाला होता है।[२९] शिल्प के साथ मानवीय भावनाओं का मिलन वैदिक शिल्प की अन्यतम विशेषता है। वस्त्र वयन के क्रम में अथर्ववेद में कहा गया है कि माता के स्नेह से भीगा हुआ वस्त्र दीर्घ आयु प्रदायक, स्वरितप्रद एवं समस्त अरिष्टों का नाशक होता है।[३०]

वैदिक शिल्प ज्ञान के ये कतिपय निदर्शन न केवल वेद की सर्वज्ञानमयता को सिद्ध करने में सिद्ध हैं। अपितु द्वैध की स्थिति झेल रहे विश्व के लिये नवीन आशा की किरण भी हैं।

विश्व के वैज्ञानिक यदि मानवोपयोगी (समुचित) टिकाऊ विकास की मूल अवधारणा पर आधारित वैदिक- ज्ञान- विज्ञान का आश्रय लेकर विकास की नई यात्रा प्रारम्भ करेंगे तो निश्चितरूप से विश्व इस द्वैधावस्था से मुक्ति पा सकता है। प्राचीन भारतीय शिल्प विज्ञान का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। वैदिक ज्ञान पर आधारित विकास अधिक टिकाऊ एवं मानव मात्र के लिए हितकारी एवं समुचित था। दिल्ली का लौहस्तम्भ प्राचीन धातु-विज्ञान की विलक्षणता का साक्षी है। इसी प्रकार प्राचीन भारतीय वस्त्र-उद्योग की समस्त विश्व में धूम थी। ओषधि ज्ञान पर

---

[२७] अथर्व. १०.७.४२

[२८] अथर्व. ५.४७.६

[२९] अथर्व. २.१३.३

[३०] अथर्व. २.१३.२,३

आधारित भारतीय मसाला उद्योग की महक तो अब भी विश्व-बाजार को प्रभावित करती है।

द्वितीयतः वैदिक शिल्प के विकास की अवधारणा की प्रमुख विशेषता यह है कि वैदिक शिल्प मानव मात्र का हित चिन्तक है। वह बाजार को प्रभावित तो करता है किन्तु बाजार से प्रभावित नहीं होता है। अर्थात् वह मानव हित के शिल्प निर्माण की कला में विश्वास रखता है। उसका विश्वास वस्तु की आपूर्ति द्वारा लाभ कमाने के लिए किञ्चित्मात्र भी नहीं है। यही कारण है कि महर्षि मनु ने बड़ी खदानों, बड़े-बड़े यन्त्रों का चलाना एवं निर्माण करने आदि कृत्यों को वृक्षों के काटने एवं वैश्यागमन के समान निन्दनीय माना है।[३१]

मनु ने वैदिक शिल्प की मूल अवधारणा को अभिव्यक्ति के स्वर दिये हैं। वस्तुतः वैदिक शिल्प मानव के द्वारा मानव के हित साधने की मूल अवधारणा पर आधारित है। जो मनुष्यों में परस्पर सौख्य एवं सौहार्द बनाने में तो सहायक है ही, वर्तमान भारत की सबसे विकराल बेरोजगारी की समस्या का समाधान भी है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ के कुचक्र का करारा जवाब भी।

इस प्रकार यदि वैदिक ज्ञान की शिल्प विद्या पर गम्भीर अध्ययन किया जाये तो निश्चितरूप से वह समाज एवं राष्ट्र के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं हितकारी सिद्ध होगा।

---

[३१] मनु ११.६३

गोपथे ब्रह्मचारिस्वरूपम्

सञ्जयमठपालः[१]

डॉ० धनञ्जय कुमार आचार्यः[२]

वैदिक-वाङ्मय-परम्परायाम् अथर्ववेदीय-गोपथब्राह्मणस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं सर्वविदितमेवास्ति। कालवशाद् यद्यपि वैदिकी ज्ञानधारा विलुप्ता विछिन्ना च विविच्यते कैश्चिद्विद्वन्मन्यैः परमद्यापि सामृतज्ञानधारा स्वकीयां चिरजीवितां द्योतयति देदीप्यमानम् इतिहासं च प्रमाणयति।

गोपथब्राह्मणम् अथर्ववेदस्य एकमात्रं प्राप्यमाणं ब्राह्मणम्। महाभाष्ये **'नवधा अथर्वणः'**[३] इति अथर्ववेदस्य नव शाखाः मताः। तत्र एकैकस्य पृथक्ब्राह्मणमिति सम्भाव्यते। परमद्यत्वे यत्र केवलं शाखाद्वयमेवोपलभ्यते - शौनकपैप्पलादौ क्वोपलब्धिः तत्र ब्राह्मणानाम्। यत्र सहस्रशः दुर्लभग्रन्थाः कालकरालतां गताः स्वनामावशेषेणैव जीवन्ति तत्र गोपथब्राह्मणस्य मूलरूपेण प्राप्तिः सौभाग्यप्रदैव प्रतिभाति।

अथर्ववेदीयब्राह्मणमिदं द्वयोः विभागयोः विभक्तम् - पूर्वभागः उत्तरभागश्च। पूर्वोत्तरयोः उभयोः भागयोः आहत्य ११ प्रपाठकाः २५८ कण्डिकाश्च सन्ति। तत्र पूर्वभागे ब्रह्मणः तद्विरचितायाः सृष्टेश्चोत्पत्तिवर्णनम्,

---

[१] **शोधच्छात्रः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, दिल्ली**

[२] **सहायकाचार्यः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, दिल्ली**

[३] महाभाष्यम्- पस्पशाह्निकः

ब्रह्मयज्ञविधानम्, ओङ्कारस्य वर्णनम्, पृथिव्यादेश्च उत्पत्तिः, ब्रह्मचर्य-वर्णनम्, यज्ञविधानम्, दीक्षितपुरुषकर्मविधानम्, संवत्सरादिविधानम् इत्यादयः विषयोपविषयाश्च वर्णिताः।

तथोत्तरभागे यज्ञकर्माणि यथा - दर्शपौर्णमास-कामेष्टि-अग्निष्टोम-चातुर्मास्यानि वर्णितानि। वषट्कारानुवषट्कारयोः वर्णनमपि अत्रैव विहितम्। एकाहयज्ञानां वर्णनम्, अतिरात्रकर्माणि, सौत्रामणि-वाजपेय-आप्तोर्याम्कृत्यानि अपि अस्मिन्नेव भागे व्याख्यातानि। एतदतिरिक्तं विभिन्न-यज्ञानाम्, यज्ञशिल्पानां यज्ञप्रयोगाप्रयोगविषयकाणां च नियमानां विवेचनाऽपि अत्र लभते।

भारतीयजीवनपद्धतौ आश्रमचतुष्टयस्य उपयोगित्वं महत्त्वञ्च सकलेऽपि भुवने प्रसिद्धम्। तत्रापि ब्रह्मचर्याश्रमः आधारभूतो यत्र मानवव्यक्तित्वस्य काचिदाधारशिलैव संस्कारशिक्षादिरूपा आगामिजीवनाय स्थाप्यते। अतएवास्य महत्त्वपूर्णस्याश्रमस्य आश्रमिणो ब्रह्मचारिणश्च महिमादयः नैकग्रन्थेषु विस्तरेण गीताः। गोपथब्राह्मणेऽपि पूर्वभागस्य द्वितीये प्रपाठके ब्रह्मचारिणः स्वरूपविषये विस्तृतं वर्णनमुपलभ्यते। वर्णनमिदम् अथर्ववेदतः (११/५) गृहीतं वर्तते। ब्रह्मचारिणः महिमा, तस्य कर्त्तव्याकर्त्तव्यानां विधानमत्र सूक्ष्मेक्षिकया कृतमिति।

ब्रह्मचारिस्वरूपम्

ब्रह्मचारिणंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति॥[४]

इति मन्त्रमुखेन ऋषिः ब्रह्मचारिणः महिमानं वर्णयति। किं नाम ब्रह्मचारी? इत्यमुं प्रश्नमुत्तरन् ऋषिः कथयत्येवं गोपथब्राह्मणे- **अथाध्यात्मं व्रतवांश्चरणवान् ब्रह्मचारी**[५]।

---

[४] अथर्ववेदः- ११/५/१

[५] गोपथब्राह्मणम्-पूर्व.प्र०२ कं०५

अर्थात् आत्मतत्वं जानन् व्रतपालकः सदाचारी च नरः ब्रह्मचारी भवति। ब्रह्मचारी वेदाध्ययनेन स्वकीयेन च तपोबलेन इन्द्रियाणि सन्नियम्य पृथ्व्यादीन् स्थूलान् सूक्ष्मांश्च विषयान् पदार्थांश्च विज्ञाय लोकं सुखकरमानन्दमयञ्च विदधाति। देवा अपि एकमना अस्य भवन्ति। अयं ब्रह्मचारी प्राप्तदीक्ष आचार्यव्रतं पालयति।

ब्रह्मचारिस्वरूपवर्णनक्रमे अथर्ववेदमनुसरति ब्राह्मणमिदम्। अथर्ववेदस्य ब्रह्मचर्यसूक्ते ब्रह्मचर्यव्रतस्य महिमा गीयते। देवाः मानवाः पशवः पक्षिणश्च सर्वे ब्रह्मचर्यप्रभावादेव उत्पन्नाः। न केवलम् एतावदेव अपितु ओषधयो वनस्पतय अहोरात्रे ऋतवः संवत्सराश्च सर्वे ब्रह्मचर्यप्रभावादेव प्रादुर्भूताः। उक्तञ्च यथास्मिन् ब्राह्मणे -

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥[६]

ब्रह्मचारिकर्त्तव्यानि

गोपथब्राह्मणे ब्रह्मचारिणः कर्त्तव्यानि दैनिकनियमाः आचार्यसेवा इन्द्रियनिग्रहादिकञ्च सविस्तरं वर्णितम्। ब्रह्मचारिणः निवासः एकान्तस्थलेषु यथा नदीनां सङ्गमे, गिरीणामुपत्यकायाम् भवितव्यः। यत्र वसन्तः गुरुमुपसेवमानाश्च ब्रह्मचारिणः शिष्याः मेधां जनयन्तः गम्भीरे व्रते तपः तप्यमानाः वीर्यनिग्रहादिपूर्वकं तिष्ठेरन्। ब्रह्मचारी नित्यम् आचार्यमुपसेवेत। ब्रह्मचारी तम् उपगम्य ब्रूयात्- **'धर्मगुप्तो मा गोपायेति'**[७]। अर्थात् हे आचार्यश्रेष्ठ! धर्मपालकं मां रक्षय। अविद्यारागद्वेषादिभिः दोषैः मां परित्रायस्वेति। उपनीयमानस्य ब्रह्मचारिणः

---

६ अथर्ववेदः- ११/५/२०

७ गोपथब्राह्मणम्-पूर्व.प्र०२ कं०४

कर्त्तव्यानि गोपथब्राह्मणे चतुर्षु विभागेषु विभक्ताः –

स वा एषः उपयंश्चतुर्द्धोपैत्यग्निं पादेनाचार्य्यं पादेन ग्रामं पादेन मृत्युं पादेन...... ।[८]

अत्र ऋषि अग्निराचार्यः ग्रामस्य मृत्योश्च एतेषां व्याजेन ब्रह्मचारिणः कर्त्तव्यानि निर्दिशति। ब्रह्मचारी पादेन चतुर्थांशेन वा अग्निं सेवते। प्रतिदिनं समिधः आहृत्य प्रातः सायञ्च अग्निहोत्रं जुहोति। तेन स अग्निरिव तेजस्वी भूयादिति भावः। द्वितीयेन चतुर्थांशेन आचार्यम् उपैति अर्थात् आचार्यं निष्ठापूर्वकं सेवते इति भावः। ब्रह्मचारी मनोयोगेन आचार्यस्य आज्ञापालनं कुर्यात्। यदि आचार्यः तं शयानमप्यभिवदेत् स उत्थाय प्रत्यक्षं सङ्गत्य प्रतीत्या श्रवणं कुर्यात्। यथा आचार्यः निर्दिशेत् तथैव व्यवहरेत्। आचार्यः मृत्युरूपः वरुणरूपः सोमरूपश्च स्तूयते संहितायाम्-

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः,
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥[९]

आचार्यः दुर्गुणनाशकत्वात् मृत्युरूपः, सद्गुणप्रापकत्वात् वरुणरूपः, तापत्रय-शामकत्वाच्च सोमरूपः परिकीर्तितः। यथा वरुणदेवस्यानुचराः मेघाः पृथिवीम् आप्लावयन्ति तथैव आचार्यस्यानुचरः शिष्यः स्वकीयैः ज्ञानविज्ञानैः सद्गुणैश्च लोकम् आह्लादयति। आचार्यशुश्रूषया ब्रह्मचारी प्रतिष्ठां लभते।

ब्रह्मचारी अपरेण चतुर्थांशेन ग्रामं सेवते। यदा ब्रह्मचारी ग्रामं प्रविश्य भिक्षामेव परितः प्राप्तुमिच्छति न मैथुनम्, तदा स ब्रह्मचारी

---

[८] गोपथब्राह्मणम्- पूर्व.प्र०२.क०३

[९] अथर्ववेदः- ११/५/१४

स्वशुद्धाचरणप्रभावात् यशोयुक्तो भवति। अन्तिमेन तुरीयांशेन ब्रह्मचारी मृत्युं सेवते। यदा स उपनीतः ब्रह्मचारी क्रुद्धः सन् वाचा न कञ्चन हिनस्ति तदा सः मृत्योः प्रतिष्ठां लभते अर्थात् क्रोधत्यागात् मृत्युं कष्टं दुःखं वा वशीकरोतीति।

ब्रह्मचारिणः पञ्चाग्नयः ध्रियन्ते- द्वौ हस्तयोः, मुखे, हृदये उपस्थे च। एतैरंगैः सः स्त्रीनस्पृशन् क्रमशः सत्कर्मिणाम्, संन्यासिनामग्निहोतॄणां शूराणां गृहमेधिनाञ्च लोकान् प्राप्नोति[१०]। यः ब्रह्मचारी एतान् पञ्चविधानग्नीन् वशीकृत्य धर्मे तिष्ठति धर्मपूर्वकं व्यवहरति सः संन्यासी इव वन्द्यः भवति।

इत्थं ब्रह्मचारिणः इमानि परमकर्त्तव्यानि। सः नित्यम् अग्निहोत्रादि-यजनपूर्वकम् आचार्यं सेवेत। इन्द्रियनिग्रहं कृत्वा अभिमानादीन् दुर्गुणान् त्यक्त्वा च भिक्षावृत्तिमाचरेत्। सौम्यतादयादानादिसद्गुणैः लोकं सुखिनं कुर्यात्। आत्मानं च ब्रह्मवर्चसा युक्तं विधाय ऐश्वर्यं प्राप्नुयात्।

ब्राह्मणेऽस्मिन् कर्त्तव्यवर्णनानन्तरं द्वितीयायां कण्डिकायां सप्तमनोरोगान् शमयितुम् ब्रह्मचारिणे उपायान् उपदिशति ऋषिः- एषः जायमान उपनयनादिसंस्कारं प्राप्यमाणः सप्तेन्द्रियाणि अभिजनयति, सप्तमनोरोगान् वशीकरोतीति। ते च वर्णिताः ब्रह्मवर्चसञ्च यशश्च स्वप्नञ्च क्रोधञ्च श्लाघाश्च रूपञ्च पुण्यमेव गन्धं सप्तमम् अर्थात् ब्रह्मवर्चसं विद्याध्ययनादुत्पन्नः तेजः यशः स्वप्नं निद्रां क्रोधं श्लाघां रूपं पवित्रं गन्धञ्च। ब्रह्मचारिणः तेजः मृगेषु अवरुद्धो भवति। यतः मृगाजिनानि धारयन् सः ब्रह्मचर्याश्रमे आस्ते। स्नातको भूत्वा तेजः इदं पुनः प्राप्नोति। यत् प्रतिदिनम् आचार्यसेवां विधत्ते तेन यशः आचार्ये अवरुद्धं भवति।

---

[१०] गोपथब्राह्मणम्-पूर्व.प्र०२ कं०४

पुनः स्नातको भूत्वा तेजस्वी भवति। निद्रा अजगरे निरुद्धा जायते। स्नातः सः पुनरिमां लभते। एवं क्रोधं वराहे श्लाघा अप्सु रूपं कुमार्यां पुण्यो गन्धश्च वनस्पतिषु अवरुद्धो भवति ब्रह्मचर्यपालनसमये[११]। एतान् सर्वानपि वशीकृत्यः स ब्रह्मचारी स्नातकः जितेन्द्रियः सन् तद्तद्गुणयुक्तो जायते। देवैः विद्वद्भिश्च स्तूयमानः श्लाघ्यमानः भवति ब्रह्मचार्यसौ। अमुमेव विषयमथर्ववेदः अपरया शैल्या वर्णयति-

ब्रह्मचारी ब्रह्मभ्राजद् बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्ममेधाम् ॥[१२]

ब्रह्मचारिणः निषिद्धकर्माणि

ब्रह्मचारिणा नित्यं समिदाहरणम् अग्निपरिचर्यञ्च कर्तव्यम्। यः ब्रह्मचारी समिधः न आहरति तस्यायुः क्षीयते। ऋषिः वर्णयति यत् ब्रह्मणा सर्वाः प्रजाः मृत्यवे प्रदत्ताः केवलं ब्रह्मचारिणमेव न सम्प्रायच्छत्। ब्रह्मचारिणं भिक्षाविधानमप्युपदेष्टव्यम्। गृहपतिभिश्च स्वकीय-इष्टापूर्त-सुकृत-द्रविणादीनां रक्षणाय ब्रह्मचारिणे भिक्षा प्रदेया[१३]। अतः गृहमेधिन अस्मै ब्रह्मचारिणे भिक्षादिकं दद्युः। यथा ब्रह्मचारिणां व्रतं समिद्भिक्षाहरणं तथैव गृहपतीनां भिक्षादानम्। प्रायश्चित्तविधाने उच्यते ऋषिणा-

समिद्भैक्षे सप्तरात्रम् आचरितवान् ब्रह्मचारी पुनः उपनेयः भवति।[१४]

अतः ब्रह्मचारी सप्तमीं रात्रिं न अतिनयेत्, सप्तमीम् अतिनयन् ब्रह्मचारी न भवति। ऋषिणा ब्रह्मचर्याश्रमे निषिद्धानां कर्मणामपि वर्णनमेवं कृतम्-

---

[११] गोपथब्राह्मणम्-पूर्व.प्र०२ कं०२

[१२] अथर्ववेदः- ११/५/२४

[१३] गोपथब्राह्मणम्- पूर्व.प्र०२.क०६

[१४] गोपथब्राह्मणम्- पूर्व.प्र०२.क०६

नोपरिशायी स्यान्न गायनो न नर्तनो न सरणो न निष्ठीवेत्।[१५]

ब्रह्मचारी न शय्याशायी स्यात्। गायनं नर्तनादिकमपि प्रतिषिद्धं ब्रह्मचर्यव्रते। आश्रमपरिधौ निष्ठीवनं न कुर्यात्। न श्मशानमातिष्ठेत्। यदि चेदभितिष्ठेत् उदकं हस्ते धृत्वा मन्त्रान् जपन् परिक्रमेत् प्रायश्चित्तं विदध्यात्। विलासहेतून् वस्त्रादीन् न धारयेत्-

तान्तवं न वसीत यः तान्तवं वस्ते क्षत्रं वर्धते न ब्रह्म,

तस्मात् तान्तवं न वसीत, ब्रह्मवर्धतां मा क्षत्रम् इति।[१६]

ब्रह्मचारी सदैव व्रतनिष्ठः भूत्वा स्वदोषान् अपवारयेत्। गुरुसेवाम् इन्द्रियजयं वेदाध्ययनादिकञ्च यत्नेन परिसेवेत। प्रमादादिना यदि कोऽपि दोषः जायेत तर्हि प्रायश्चित्तादिविधानेन परमेश्वरस्मरणेन च तं दोषं समूलमपवारयेत्। इत्थं दोषानपवारयन् ब्रह्मचारी परिपूतः सन् देवानां लोकमधिगच्छति देवत्वं श्रेष्ठतां वा प्राप्नोति। तादृशस्य ब्राह्मणस्य ब्रह्मत्वम् अथर्ववेदः इत्थं वर्णयति-

देवानामेतत् परिपूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्।

तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्।[१७]

ब्रह्मचारिणः तपः प्रभावाद् ब्रह्मज्ञानम् ऐश्वर्यादिकं च उपपद्यन्ते येन सर्वे विद्वांसः सुखिनो भवन्ति। अत आचार्य एनं ब्रह्मचारिणं विद्यास्नातं व्रतस्नातं च विदध्यात्।

ब्रह्मचर्यावधिः

गोपथब्राह्मणे ब्रह्मचर्यवर्णनप्रसङ्गे प्राप्यते प्रसिद्धमेकमाख्यानम्।

---

[१५] गोपथब्राह्मणम्- पूर्व.प्र०२.क०७

[१६] गोपथब्राह्मणम्- पूर्व.प्र०२.क०४

[१७] अथर्ववेदः- ११/५/२३

अत्र ऋषिः जनमेजय-हंसयुगलमाध्यमेन जनमेजय-दन्तावलधौम्रयोः वार्तालापमाध्यमेन च ब्रह्मचर्यस्य महिमानं ब्रह्मचर्यपालनावधिञ्च आख्यापयति-

भो ! किं पुण्यमिति ब्रह्मचर्य्यमिति, किं लौक्यमिति ब्रह्मचर्य्यमेवेति, तस्मा एतत् प्रोवाचाष्टाचत्वारिंशद्वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्यम्........ ।[१८]

अर्थात् यदा जनमेजयः ऋषिं धौम्रम् उपगम्य किं पुण्यमिति पप्रच्छ तदा ऋषि उवाच- ब्रह्मचर्यम्। किं वा लौक्यं दर्शनीयं विचारणीयमिति। ऋषिः प्रोवाच- तदेव ब्रह्मचर्यमिति। तस्माद् अष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि यावद् ब्रह्मचर्यपूर्वकं चतुर्णामपि वेदानाम् अध्ययनं कुर्यात्। द्वादशवर्षोपेतं प्रतिवेदमिति अथवा एतद् करणे अशक्तः जनः अतिन्यूनं तत्कालं वेदेषु व्यूह्य द्वादशवर्षाणि ब्रह्मचर्यं पालयन् वेदमेकं पठेत्। तथोत्तरम् यथाशक्ति अधीयात्। इत्थमेव ब्रह्मचर्यमाचरन्तः पूर्वं ब्राह्मणाः पुण्यां कीर्तिं सम्पादितवन्तः तथैव अद्यापि कर्तुं शक्यते इति- **एवं ह स्म वै तत् ब्रह्मचर्यं पूर्वे ब्राह्मणाः चरन्ति तेषां ह वा एषा पुण्याकीर्तिः गच्छति, आ ह वै अयं सो अद्यगमिष्यति**[१९] इति ब्रह्मचारिस्वरूपविषये उपदिशति सुतरां गोपथब्राह्मणम्।

---

[१८] गोपथब्राह्मणम्- पूर्व.प्र०२.क०५

[१९] गोपथब्राह्मणम्- पूर्व.प्र०२.क०४

बृहदारण्यकोपनिषद् में अलङ्कार योजना

डॉ० डॉली जैन[1]

वैदिक साहित्य निखिल ज्ञान-विज्ञान की अक्षय निधि है। इनमें 'आरण्यक' अरण्य में निवास करने वाले वानप्रस्थ आश्रम के लोगों के लिए उपादेय हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट रूप आरण्यकों और उपनिषदों का विकास प्रत्येक वैदिक शाखा में हुआ है। सायणाचार्य की सम्मति में अरण्य में पाठ्य होने के कारण इनका 'आरण्यक' नामकरण सर्वथा सार्थक प्रतीत होता है। **'अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।'** अरण्य के निर्जन शान्त स्थान में अध्ययन के योग्य होने से इन वैदिक ग्रन्थों को 'आरण्यक' कहा गया है। आरण्यकों का प्रतिपाद्य यज्ञों में निहित आध्यात्मिक विषयों का विवेचन है, जो जनसंकुल ग्राम में विवेच्य नहीं होता। गृहस्थाश्रम में रहकर जिन यज्ञ-यागों का अनुष्ठान किया जा चुका है। उनके रहस्यों का अनावरण और पौराहित्य दर्शन की व्याख्या करने में ये आरण्यक ग्रन्थ लगे हैं। वस्तुतः ब्राह्मणों के क्रियाकलापों को औपनिषद चिन्तनधारा से जोड़ने वाली शृंखला के रूप में आरण्यकों का विपुल महत्त्व है। आरण्यक की महत्ता को महाभारत के आदिपर्व में इस प्रकार कहा गया है- **'आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा।'**[२]

---

[१] **सहाचार्या, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर**

[२] महा०भा० १.२६५

आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मणों के अन्तिम अंशरूप और उपनिषदों के पूर्व अंशरूप हैं। इनमें पूरे जगत् को यज्ञमय कहा गया है। याज्ञिक रहस्यों की यथार्थ मीमांसा इन्हीं ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

इनमें वर्णाश्रम धर्म को भी समझाया गया है। प्राणविद्या भी आरण्यकों की विशिष्ट विषय वस्तु है। प्राणविद्या का जैसा विशद और विशिष्ट विवेचन आरण्यकों ने प्रस्तुत किया है, वह विश्व साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। प्राणविद्या सम्बन्धी अपने विचारों की पुष्टि के लिए आरण्यकों ने ऋग्वेद के मन्त्रों को उद्धृत किया है। प्राण को विश्व का धारक कहते हुए निरूपित किया गया है कि सभी छोटे बड़े पदार्थ प्राण से ही स्थिरता की प्राप्ति करते हैं- "**एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।**" प्राण के द्वारा अन्तरिक्ष वायु की सृष्टि हुई है। सामान्यतः आरण्यक गद्यात्मक हैं किन्तु ब्राह्मणों के समान कहीं-कहीं इनमें पद्य भी मिलते हैं।

इस प्रकार आरण्यकों में यज्ञ का दार्शनिक स्वरूप, आत्म विवेचन, तत्त्वमीमांसा, ज्ञान, कर्म और उपासना का समन्वय, वर्णाश्रम-धर्म तथा प्राणविद्या आदि का वर्णन है। इसके साथ ही इन आरण्यकों में काव्य का पुट भी दिखाई देता है। कभी शब्दों में नवीन अर्थ देकर, कभी बिम्बविधान, कभी प्रतीकयोजना, कभी रूपक-योजना, कभी अप्रस्तुत-योजना, कभी उपमान-विधान, तो कभी दृष्टान्त-योजना द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन यहाँ किया गया है। प्रस्तुत शोधपत्र का विषय बृहदारण्यक में अलंकार योजना है, जिसे निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है-

(१) अनुप्रास - अनुप्रास की व्युत्पत्ति है- अनु + प्र + आसः। अर्थात् रस के अनुगत प्रकृष्ट न्यास को अनुप्रास कहा जाता है। रसादि के

अनुकूल वर्णों का प्रकृष्ट सन्निवेश अनुप्रास अलङ्कार है।

विश्वनाथ के अनुसार अनुप्रास का लक्षण है- ''**अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।**[३]'' अर्थात् स्वरों की विषमता रहने पर भी शब्दमात्र की समानता अनुप्रास अलङ्कार है।

इसका उदाहरण इस प्रकार है - **द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।**[४]

इसी प्रकार अन्यत्र है - **याज्ञवल्क्यः किं ज्योतिरयं पुरुष इति। आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाच। आदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति। एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य।**[५]

यहाँ म्, त्, च्, य्, ज्, त्, क् इत्यदि वर्णों की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलङ्कार है।

(२) उपमा - सादृश्यमूलक अलङ्कारों में उपमा का सर्वप्रथम स्थान है। विश्वनाथ के अनुसार इसका लक्षण है - **साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।**[६]

अर्थात् एक वाक्य में दो पदार्थों के वैधर्म्यरहित वाच्य सादृश्य को उपमा कहा जाता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है- **ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठति ...।**[७]

यहाँ आत्मसत्ता के स्फुरण की आश्रयभूत 'हिता' नामक नाड़ियों की सूक्ष्मता का प्रतिपादन करने के लिए सहस्रधा काटे हुए केश को

---

[३] सा०द० १०.३

[४] बृह०उप० २.३.१

[५] बृह०उप० ४.३.२

[६] सा०द० १०.१४

[७] बृह०उप० ४.३.२०

उपमान बनाया गया है, इसलिए यहाँ उपमा अलङ्कार है।

(३) रूपक - विश्वनाथ के अनुसार निषेधरहित विषय (उपमेय) में रूपित (उपमान) के आरोप को रूपक अलङ्कार कहते हैं- **रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे।**[८]

इसका उदाहरण इस प्रकार है- **इमावेव गोतमभरद्वाजौ। अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः इमामेव विश्वामित्र जमदग्नी। अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः। इमामेव वसिष्ठकश्यपौ। अयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपः। वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति। सर्वस्यात्ता भवति। सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद।**[९]

यहाँ उपासक के कानों पर गौतम तथा भरद्वाज का, नेत्रों पर विश्वामित्र और जमदग्नि का, नासिका पुटों पर वसिष्ठ और कश्यप का तथा वाणी पर अत्रि का आरोप होने से साङ्गरूपक अलङ्कार है। यहाँ उपासक की इन्द्रियों पर सप्तर्षियों का आरोप करके उपासना का माहात्म्य अभिव्यक्त किया गया है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण हैं - **'वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारः स्तनाः। स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारः। तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं हन्तकारं मनुष्याः। स्वधाकारं पितरः। तस्याः प्राण ऋषभो मनोवत्सः।**[१०]

यहाँ वाणी पर धेनु का, स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार एवं स्वाधाकार पर स्तनों का, प्राण पर ऋषभ का तथा मन पर वत्स का आरोप किया गया है। अतः साङ्गरूपक अलङ्कार है। इसी प्रकार अन्यत्र है- **मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम्।**[११] यहाँ मृत्यु पर तम का तथा अमृत पर

---

[८] सा०द० १०.२८

[९] बृह०उप० २.२.४

[१०] बृह०उप० ५.८.१

[११] बृह०उप० १.३.२८

ज्योति का आरोप है। अतः यहाँ रूपक अलङ्कार है।

(४) सन्देह अलङ्कार - संदेह अलङ्कार का बीज संशयज्ञान है। जहाँ उपमेय पर उपमान का संशय हो, वहाँ संदेह अलङ्कार होता है। संदेह की व्युत्पत्ति है- **''सन्देहेन संशयेन सह वर्तते इति सन्देहः।''**

विश्वनाथ ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है कि प्रकृति अर्थात् उपमेय में उपमान के संशय को संदेह अलङ्कार कहते हैं, परन्तु उस संशय को कवि की प्रतिभा से उत्थित होना चाहिए। चमत्कारक संशय ही संदेह अलङ्कार कहलाता है, अन्य लौकिक संशय नहीं - **संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।**[१२]

इसका उदाहरण इस प्रकार है- "**तस्मिंन्छुक्लमुत नीलमाहुः पिंगलं हरितं लोहितं च। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च।''**[१३]

यहाँ मोक्ष मार्ग के विषय में मतभेद है। कोई उसे शुक्ल और कोई नीलवर्ण का तथा कोई पिङ्गलावर्ण का, कोई हरित और कोई लोहित वर्ण का कहता है, किन्तु वह मार्ग साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभूत है। उस मार्ग से पुण्य करने वाला परमात्मतेजः स्वरूप ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। इस प्रकार सन्देह अलङ्कार है।

(५) उल्लेख अलङ्कार - उल्लेख अलङ्कार में एक का अनेक प्रकार से उल्लेख होता है। एक ही वस्तु को या तो दर्शक अपने-अपने दृष्टिकोण से देखते हैं और वह वस्तु भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है, अथवा एक ही वस्तु का रूप उसके विषय आश्रय को बदलने पर भिन्न हो जाता है।

विश्वनाथ ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है कि कहीं ज्ञाताओं के भेद से या विषय के भेद से एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख करना

---

[१२] सा०द० १०.३५

[१३] बृह०उप० ४.४.९

उल्लेख अलङ्कार कहलाता है-

क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो य स उल्लेख उच्यते॥[१४]

इसका उदाहरण इस प्रकार है- ''**अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेन प्राणो नाम भवति। वदन् वाक् पश्यंश्चक्षुः शृण्वन्छ्रोत्रं मन्वानो मनः। तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव। स योऽतएकैकमुपासते न स वेद। अकृत्स्नो ह्येषो त एकैकेन भवति।**[१५] यहाँ एक ही तत्त्व का अनेक प्रकार से कथन है।

(६) उत्प्रेक्षा अलङ्कार - उत्प्रेक्षा में उपमेय पर उपमान की उत्कट सम्भावना होती है। उत् + प्र + ईक्षा = उत्प्रेक्षा अर्थात् उत् - उत्कट (प्रबल) प्र - प्रकृष्ट (उपमान) की ईक्षा = (सम्भावना) अर्थात् जहाँ उपमान की उत्कट रूप से सम्भावना हो, वहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है।

विश्वनाथ कहते हैं कि प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप में सम्भावना करने को उत्प्रेक्षा कहते हैं- **भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।**[१६]

इसका उदाहरण इस प्रकार है- **यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं पश्यति, तदितर इतरं शृणोति, तदितर इतरमभिवदति, तदितर इतरं मनुते, तदितर इतरं विजानाति।**[१७]

इस मन्त्र में अद्वैत में द्वैत की सम्भावना के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

(७) अतिशयोक्ति - इस अलङ्कार में अतिशय, असाधारण, लोकातीत, लोकातिक्रान्त कथन होता है। ''**अतिशयिता**

---

[१४] सा०द० १०.३७

[१५] बृह०उप० १.४.७

[१६] सा०द० १०.४०

[१७] सा०द० १०.४०

प्रसिद्धयतिक्रान्तालोकातीता उक्तिः अतिशयोक्तिः।

विश्वनाथ कहते हैं कि अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है। विषय का निगरण करके विषयी के साथ उसके अभेदज्ञान को अध्यवसाय कहते हैं-

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।[१८]

इसका उदाहरण इस प्रकार है- **''रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाया।'' इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते मुक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति। अयं वै हरयो यं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च। तदेतत् ब्रह्मा पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्। अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभू।**[१९]

यहाँ हरि (अश्व) रूप उपमान के द्वारा इन्द्रिय रूप उपमेय निर्गीण है। अतः अतिशयोक्ति है।

(८) दृष्टान्त- उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों में सादृश्य वाच्य होता है परन्तु दृष्टान्त में सादृश्य व्यंग्य होता है- **दृष्टः अन्तः (प्रकृतस्य वस्तुनः उदाहरणेन निश्चयः) यत्र स दृष्टान्त।**

जो बात कही जा रही है उसे धर्मसहित उदाहरण द्वारा परिपुष्ट कर देना दृष्टान्त है।

विश्वनाथ के अनुसार दो वाक्यों में धर्मसहित उपमानोपमेय के प्रतिबिम्बन को दृष्टान्तालङ्कार कहते हैं- **दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।**[२०]

इसका उदाहरण इस प्रकार है- **तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयामेव ध्रियते। एवमेवायं**

---

[१८] बृह०उप० २.५.१९

[१९] सा०द० १०.५१

[२०] बृह०उप० ४.३.१९

पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति। यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति। [२१]

इस मन्त्र में आकाश में श्येन या सुपर्ण के श्रान्त हो जाने पर घोंसले की ओर दौड़ने तथा खिन्न हुए पुरुष (जीवात्मा) के परमात्मा की ओर उन्मुख होने से बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्त अलङ्कार है।

(९) निदर्शना- निदर्शना का अर्थ है संकेत करना। इसमें पहिले एक बात कही जाती है और तब संकेत देकर उसे स्पष्ट किया जाता है। जैसा कि इसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट है- **निश्चित्य दर्शनं सादृश्यप्रकटनं निदर्शनम्।**

विश्वनाथ के अनुसार जहाँ वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध सम्भव अथवा असम्भव होकर उनके प्रतिबिम्ब भाव का बोधन करे, वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है-

सम्भवन्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना॥[२२]

इसका उदाहरण इस प्रकार है -

यत्समूलमाबृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना ववृणः कस्मान्मूलात् प्ररोहति॥[२३]

यहाँ वृक्ष और मर्त्य का परस्पर सम्बन्ध सम्भव (अबाधित) होकर उनके बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का बोधन करा रहा है। अतः यहाँ निदर्शना अलङ्कार है।

(१०) परिकर- इस अलङ्कार में एक या अनेक साभिप्राय विशेषणों

---

[२१] सा०द० १०.५२

[२२] बृह०उप० ३.९.२८

[२३] सा०द० १०.५७

के प्रयोग से प्रतिपाद्य की विशेषता प्रकट होती है। परिकर की व्युत्पत्ति है- **''परिकरोति प्रकृतार्थमुपस्करोतीति परिकरः साभिप्रायशब्दः सोऽस्मिन्नस्तीति परिकरः। मत्वर्थीयोऽच्।''**

विश्वनाथ के अनुसार जहाँ कहे हुए विशेषण विशेष अभिप्राय का बोधन करते हों वहाँ परिकर अलङ्कार होता है-

उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः॥[२४]

इसका उदारण इस प्रकार है-

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशदज आत्मा महान् ध्रुवः॥[२५]

यहाँ ब्रह्म के लिए अप्रमेयम्, ध्रुवम्, विरजः, अज आदि साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग हुआ है। अतः परिकर अलङ्कार है।

(११) विरोधाभास- वास्तविक विरोध न होकर आपाततः प्रतीत विरोध विरोधाभास कहलाता है। विरोधाभास की व्युत्पत्ति है- **''आ ईषत् भासते इत्याभासः। विरोधश्चाभासश्चेति विरोधाभासः॥**

विश्वनाथ के अनुसार जहाँ जाति-जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यों के साथ विरुद्ध भासित हो, गुण-गुणादिक तीनों के साथ, क्रिया-क्रिया और द्रव्य के साथ, द्रव्य-द्रव्य के साथ विरुद्ध भासित हो, वहाँ विरोधालङ्कार होता है-

विरुद्धमिव भासते विरोधोऽसौ दशाकृतिः।[२६]

इसका उदारण इस प्रकार है - **अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो**

---

[२४] बृह०उप० ४.४.२०

[२५] सा०द० १०.६८

[२६] बृह०उप० ४.३.२२

भवति भूणहाऽभूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसः। अनन्वागलं पुण्येनानन्वागतं पापेन। तीर्णो हि तदा सर्वाच्छोकान् हृदयस्य भवति।''

उपरिलिखित गद्य में सुषुप्तिस्थ आत्मा की निःसंगतया व निःशोक स्थिति का वर्णन विरुद्ध धर्मों से करने के कारण विरोधाभास अलङ्कार है।

(१२) विभावना- विभावना विरोधमूलक अलङ्कार है। लोक में साधारण नियम है कि कारण से कार्य होता है परन्तु विभावना में बिना कारण के कार्य होता है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- **विभाव्यते अनुमीयते कारणान्तरप्रसिद्धात् कारणात् अन्यत् कारणं यस्याम्।**

विश्वनाथ के अनुसार हेतु के बिना जहाँ कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो, वहाँ विभावना अलङ्कार होता है- **विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।**[२७]

इसका उदाहरण इस प्रकार है- **न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान् रथयोगात् पथः सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवति। अथानन्दामुदः। प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति। अथ वेशान्तान् पुष्कारिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्ता।**[२८]

यहाँ कारण के बिना कार्योत्पत्ति का वर्णन होने से विभावना अलङ्कार है।

(१३) अन्योन्य- जब दो पदार्थ एक क्रिया के द्वारा परस्पर कारण हैं, तब अन्योन्य अलङ्कार होता है।

विश्वनाथ के अनुसार इसका लक्षण है -

---

[२७] सा०द० १०.३६

[२८] सा०द० १०.७३

अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः करणं मिथः।[२९]

इसका उदाहरण इस प्रकार है - **इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु। अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोऽमृतमय पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा। इदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्।**[३०]

यहाँ पृथिवी द्वारा मधु एवं मधु द्वारा पृथिवी की सुखप्रदता का वर्णन है। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का पोषक होने के कारण यहाँ अन्योन्य अलङ्कार है।

(१४) काव्यलिंग - काव्यलिंग की व्युत्पति है- **लिङ्ग्ये गम्यते अनेन अर्थ इति लिङ्गं हेतुः, काव्यस्य लिङ्गं काव्यलिङ्गम्।**

विश्वनाथ के अनुसार इसका लक्षण है कि जहाँ वाक्यार्थ अथवा पदार्थ किसी के हेतु बन जाएँ वहाँ काव्यलिंग अलङ्कार होता है- **हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते।**[३१]

इसका उदाहरण इस प्रकार है -

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इव नानेव पश्यति।[३२]

इस मन्त्र में मरण चक्र में पड़े रहने का कारण नानात्व मानने से काव्यलिंग अलङ्कार है।

विश्वनाथ के अनुसार लोकातिशय सम्पत्ति का वर्णन उदात्त

---

[२९] बृह०उप० २.५.१

[३०] सा०द० १०.६४

[३१] बृह०उप० ४.४.१९

[३२] सा०द० १०.९४

अलङ्कार कहलाता है। अथवा महान् पुरुषों का चरित्र प्रस्तुत वस्तु का अंग बन जाये वह उदात्त अलङ्कार होता है-

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते।

यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत्॥

इसका उदाहरण इस प्रकार है- **यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद ....। .... ततो होद्दालक आरुणिरूपरराम।**[३३]

इस प्रसंग में आत्मा में लोकातीत सामर्थ्य का वर्णन हुआ है। अतः यहाँ उदात्त अलङ्कार है।

इस प्रकार प्रस्तुत आरण्यक में विविध अलङ्कारों का प्रयोग देखने को मिलता है। प्रस्तुत शोधपत्र का निष्कर्ष निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है -

(१) प्रस्तुत आरण्यक में शब्दालङ्कारों व अर्थालङ्कारों दोनों का प्रयोग किया गया है।

(२) शब्दालङ्कारों की तुलना में अर्थालङ्कारों का अधिक प्रयोग देखने को मिलता है।

---

[३३] बृह०उप० ३.७.३२३

विश्वकल्याणकारिणी वैदिकी यज्ञमयजीवनपद्धतिः

डा. यशस्वी[१]

समष्टेर्ग्रहणात् व्यष्टिर्गृह्यते, तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते इति न्यायात्। तदेवं ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवति- समष्टेरभ्युदये व्यष्टिरभ्युदयं विन्दतीति। विश्वकल्याणे सर्वकल्याणं पर्यवस्यतीति यावत्। नूनं विश्वकल्याणाय वेदानामुपदेशात्[२] वेदेभ्य एव विश्वकल्याणकारिणी सा वैदिकजीवनपद्धतिर्वक्तव्या, यया सामष्टिकोऽभ्युदयः सिद्ध्येत्। सा च विश्वकल्याणकारिणी वैदिकजीवनपद्धतिर्यज्ञमयी।

समष्टेः सर्वाङ्गीणविवेचनाय वेदाः ताम् आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधियाज्ञिकभेदेन त्रेधा विभज्योपदिशन्ति। तदुक्तम्- "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह - याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा"[३] इति। तस्मात् के नाम देवाः? किं नाम आधिदैविकम्? देवानां प्रादुर्भावः, देवानां यज्ञः, आध्यात्मिकम्, आधियाज्ञिकम्, वेदोक्तविश्वकल्याणोपायः इत्येवमादीन् विषयान् समासेनात्र व्याचिख्यासामः।

के नाम देवाः - "देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो

---

१ **सहाचार्यः (व्याकरणविभागः), राष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, तिरुपतिः**

२ यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः यजुर्वेदः २६-२

३ निरुक्तम् - १.२.२०

भवतीति वा''[४] इति निर्वचनात् दानशीलाः, प्रकाशनशीलाः, बोधनशीलाः, द्युस्थानिनश्च देवाः सन्ति। निर्वचनोक्तप्रवृत्तिनिमित्तं निकषीकृत्य परिशीलनात् अग्निचन्द्रसूर्यादयः, मन्त्राः, मन्त्रविषयीभूताः, इन्द्रियाणि, विद्वांसः, आचार्याः, मातरः, पितरः, परमेश्वरश्चेत्येवमादयो बहवो देवपदवाच्याः भवन्ति। तद्यथा- "**अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता...**[५]'' इत्यादिश्रुतौ अग्न्यादीनां देवतात्वेन ग्रहणम्। देव एव देवता। देवशब्दात् स्वार्थिके तल्प्रत्यये तद्रूपम्।[६] "**छन्दांसि वै देवा वयोनाधाः**''[७] "**एता वै देवताश्छन्दांसि**''[८] इति शातपथात् मन्त्रा देवाः। "**या तेनोच्यते सा देवता**''[९] इति ऋक्सर्वानुक्रमणीवचनात्, "**यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायाम् आर्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति**''[१०] इति निरुक्तवचनाच्च मन्त्रविषयो देवता। "**अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या**''[११] इत्यत्र द्योतकत्वात् इन्द्रियाणां देवशब्देन ग्रहणम्। गोपथेऽप्यभिहितं - "**चक्षुर्देवः**'' "**वाग्देवः**''[१२] इत्यादि।

---

[४] निरुक्तम्- ७.४.१५ अयम्भावः - सर्वपदवाच्यस्य ब्रह्मणः व्याख्यानो वेदः सर्वं तद् त्रेधा विभजते। तत्राधियाज्ञिकोऽर्थः पुष्पसदृशस्सन् फलसदृशे आधिदैविकार्थे परिणमति। भूयश्चाधिदैविकोऽर्थः पुष्पसदृशस्सन् फलसदृशे आध्यात्मिकार्थे परिणमति। आध्यात्मिकार्थे सर्वार्थानां पर्यवसानात्।

[५] यजुर्वेदः - १४.२०

[६] अष्टाध्यायी - ५.४.२७

[७] शतपथब्राह्मणम् - ८.२.२.८

[८] शतपथब्राह्मणम् - ८.३.३.६

[९] ऋक्सर्वानुक्रमणी - २.५

[१०] निरुक्तम् - ७.१.१

[११] अर्थववेदः - १०.२.३१

[१२] गोपथब्राह्मणम् - पूर्वार्द्धम् - २.१०

“**देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम्**”[१३] इत्यादियजुर्वचनात् “**विद्वांसो हि देवाः**”[१४] इति शातपथाच्च देवा विद्वांसः। “**मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव**”[१५] इति तैत्तिरीयोपनिषत्। “**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः**”[१६] “**देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्**”[१७] “कतम एको देव इति? **स ब्रह्म त्यद् इत्याचक्षते**”[१८] इत्यादिवचनात् परब्रह्म देवपदवाच्यमस्ति। अनया रीत्या भूयिष्ठानां देवानां सत्वेऽप्यमी गुणकर्मस्थानस्वभावादिभेदात् आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिकभेदेन त्रेधा विभज्यन्ते। तत्र आधिदैविकदेवाः अग्निवाय्वादित्यादयः।

आधिदैविकशब्दार्थः- देवेषु इत्यधिदेवम्[१९], देवविषय इत्यर्थः। अधिदेवं भवम् आधिदैविकम्।[२०] अधिदेवम् इदम्,[२१] अधिदेवं जातम्,[२२] अधिदेवादागतम्[२३] इत्येवमादयोऽप्यर्था आधिदैविकशब्दस्य यथाप्रकरणमभ्यूहितव्याः।

देवानां प्रादुर्भावः- “कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं

---

[१३] यजुर्वेदः - २५.१५

[१४] शतपथब्राह्मणम् - ३.७.३.१०

[१५] तैत्तिरीयोपनिषत् - १.११.२

[१६] श्वेताश्वतरोपनिषत् - ६.११

[१७] श्वेताश्वतरोपनिषत् - ६.१

[१८] शतपथब्राह्मणम् - १४.६.९.१०

[१९] विभक्त्यर्थे अव्ययीभावसमासः

[२०] अध्यात्मादेष्ठञिष्यते इति वार्तिकेन ठञ्प्रत्ययः

[२१] अष्टाध्यायी - ४.३.१२०

[२२] अष्टाध्यायी - ४.३.२५

[२३] अष्टाध्यायी - ४.३.७४

यदासीत्''[२४], "**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा**''[२५] इत्यादिवचःप्रामाण्यात् विज्ञायते यत् परब्रह्म पूर्णपुरुषः सङ्कल्परूपतपसः ईक्षणाद्वा अदितिं नाम अनुपक्षीणाम् अखण्डिताम् अव्यक्तप्रकृतिमधिष्ठाय जगदिदं रारच्यते। तदुक्तं - "**यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति**''[२६] "**पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्**''[२७] इति। पूर्णपुरुषस्य प्रकृत्यधिष्ठानात् महदण्डं समजायत।[२८] पूर्णपुरुषस्याभिध्यानात् महदण्डस्य विशेषेण राजनात् तदण्डं विराट् हिरण्यगर्भश्चौच्यत। अमुष्मिन्नेवाण्डे पूर्णपुरुषव्यवस्थायां सन्तः जगतः रचनं सञ्चालनं च करिष्यन्तः अग्निवाय्वादित्यादिदेवा रूपमापद्यन्ते स्म। देवानामुत्पत्तेर्मूलसमवायिकारणम् अखण्डा नित्या च प्रकृतिरिति हेतोरुक्तं निरुक्ते- "**अदितिरदीना देवमाता**''[२९] इति। अण्डरूपः स विराट् अत्यरिच्यत नाम महाविस्फोटात् विभिद्य स्वान्तःस्थानि ग्रहनक्षत्रादीनि निष्कास्य रिक्तो बभूव।[३०] विराडयम् अग्न्यादिभ्यः पूर्वम् अजनि। तेषामुत्पत्तये च पुरोहितस्सन् तपस्यति इति हेतोरुक्तं- "**यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः। पूर्वो यो देवेभ्यो जातः**''[३१] इति। एवञ्च आधिदैविकपदे विद्यमानं यद् अधिदेव इति प्रातिपदिकम्, तत्रत्येन

---

[२४] ऋग्वेदः - १०.१२९.४

[२५] ऐतरेयोपनिषत् -१.१

[२६] अथर्ववेदः - १०.८.१

[२७] ऋग्वेदः - १०.९०.२

[२८] पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहणेन च।
महदाद्या विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति ते॥
वायुपुराणम् - पूर्वार्धम् - ४.६६

[२९] निरुक्तम् - ४.४.२२

[३०] स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ऋग्वेदः -१०.९०.५

[३१] यजुर्वेदः - ३१.२०

देवशब्देन अमी एव देवा गृह्यन्ते।

देवानां कर्मयज्ञः- फलोद्देश्यकं गुणकर्मस्वभावानुगुणं सङ्गतिकरणं तन्मूलकतया आदानं प्रदानं च यस्मिन् कर्मणि भवति, तत् कर्म यज्ञः।[३२] अग्न्यादयो देवाः सृष्टिरूपफलमुद्दिश्य यज्ञं चक्रुः, सृष्टिस्थितिलयफलमुद्दिश्य यज्ञं कुर्वन्ति च। तदुक्तं- "**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**"[३३] इति।

प्रजापतिर्यज्ञपतिः- सृष्टिस्थितिलयरूपस्यास्य यज्ञस्य अध्यक्षः प्रजापतिरिति स च सर्वव्यापक इति हेतोरुक्तं- **प्रजापतिर्वै यज्ञः विष्णुर्वै यज्ञः"।**[३४] अनेन यज्ञरूपप्रजापतिना क्रियमाणे महायज्ञे तदङ्गतया सङ्गतिं विधाय देवाः कर्म कुर्वन्तीति हेतोरुक्तं- "**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**" इति।

य एव देवा जगद्रचनयज्ञं तन्वन्ति, त एव जीवानां शरीरस्य सृष्टिस्थितिलययज्ञमपि। यथा प्रकृतेः समष्टिदेहो ब्रह्माण्डमस्ति, तस्यास्तथा व्यष्टिदेहः शरीरमस्ति। यद्वत् ब्रह्माण्डस्याधिपतिः परमात्मा प्रकृतिमारभ्य देवपर्यन्तानि तत्त्वान्युपयुज्य जगद्रचनयज्ञेनानन्दति, तद्वत् पिण्डाण्डस्य शरीरस्याधिपतिर्जीवात्मा परमात्मरचितान्येव मनोबुद्धिशरीरेन्द्रियाणि स्वातन्त्र्येणोपयुज्य स्वकर्मभिः सुखदुःखे अनुभवति। ब्रह्माण्डे इव पिण्डाण्डे अपि जीवात्मनः सङ्कल्पवशात् ज्ञानकर्मादिसम्पादनाय मनोबुद्धीन्द्रियादयोदेवा यज्ञं कुर्वन्ति। तदेतत् सर्वमित्थमुक्तं - "**गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्। तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।**"[३५] "**महो देवो मर्त्या आविवेश**"[३६] "**अन्तस्ते द्यावापृथिवी**

---

[३२] यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु धातुपाठः - भ्वादिगणः - ७२८. अस्माद्धातोः यजयाजयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (अष्टाध्यायी-३.३.९०) इति सूत्रेण कर्तृभिन्नकारकार्थे भावार्थे च नङ्प्रत्यये यज्ञः इति रूपं व्युत्पद्यते।

[३३] यजुर्वेदः - ३१.१६

[३४] शतपथब्राह्मणम् - १.७.१.५

[३५] अथर्ववेदः - ११.८.१८

[३६] ऋग्वेदः - ४.५८.३

दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्। सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व''[३७] "**पुरुषोऽयं लोकसंमितः**''[३८] "**पुरुषो वावयज्ञः**''[३९] **देवानां पूरयोध्या**''[४०] इत्यादि। आत्मनो जीवस्यामी देवा इति हेतोराध्यात्मिकाः।

एवं स्थिते पिण्डाण्डे विद्यमानस्य जीवस्याविद्यायुक्तत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च बुद्धीन्द्रियादिदेवानामुपयोगेन सः यत्कर्म आचरति, तेन स्वस्य विश्वस्य च कल्याणमल्पतरं हानिश्चाधिकतरा जायमानास्ति। न च जीवस्याविद्यावत्वेऽपि तच्छरीरमाविष्टा देवाः साधिष्ठं कर्म कथङ्कारं नाचरन्तीति शङ्क्यम्, जीवाधीनत्वात् तेषाम्। यद्यपि पशुपक्ष्यादिपिण्डेष्वपि विद्यमाना जीवा अत्यल्पज्ञास्तथापि तेषां मननशक्त्यभावात् स्वातन्त्र्याभावे तत्कर्मभिः विश्वस्य हानिर्न भवति, नापि कल्याणम्। एवञ्चाद्य विश्वभूमण्डले व्यक्ति-समाज-पर्यावरणसम्बद्धाः याः समस्याः विजृम्भन्ते, तासां कारणं मनुष्याणाम् अविद्यामूलकमाचरणमेव। समस्यानामासां श्रेष्ठं समाधानमस्ति यज्ञः।

बहुधा यज्ञः

योगयज्ञः- "**प्राणो यज्ञेन कल्पताम्**''[४१] "**ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश**''[४२] इत्यादिमन्त्रैर्योगयज्ञ उपदिश्यते, येन मनोबुद्धीन्द्रियशरीरादीनि श्रेष्ठानि सम्पद्यन्ते, मोक्षपर्यन्तञ्च जीवस्याविद्या क्षीयमाणा भवति।[४३] एवम्भूतस्य जीवस्य कर्मभिर्विश्वस्य

---

[३७] यजुर्वेदः - ७.५

[३८] चरकसंहिता - शारीरस्थानम् - ५.३

[३९] छान्दोग्योपनिषत् - ३.१६.१

[४०] अथर्ववेदः - १०.२.३१

[४१] यजुर्वेदः - १८.२९

[४२] ऋग्वेदः - १०.६२.१

[४३] योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः योगदर्शनम् - २.२८

कल्याणं भवति। सूत्ररूपेणोपदिष्टोऽयं यज्ञः योगदर्शनादिषु विस्तरेण व्याख्यायते। यज्ञेऽस्मिन् मनोबुद्धीन्द्रियशरीरादिदेवानां गुणकर्मस्वभावज्ञानं, तैस्सह सङ्गतिकरणम्, आदानं प्रदानं च वर्तते।

द्रव्ययज्ञः- "**समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन**"[४४] इत्येवमादिमन्त्रैर्द्रव्ययज्ञ उपदिश्यते। अग्निवाय्वादिदेवानां सङ्गत्या दानेन च अस्मदादीनां जीवनं प्रचलति। अतस्तेऽस्माभिः संशोधनीयाः संपोषणीयाश्च। तदुक्तं- "**दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै**"[४५] इति। तैर्दत्तानामेव शास्त्रोक्तघृतादिपदार्थानाम् अग्नौ होमात् ते शुद्ध्यन्ति पुष्णन्ति च। मुखेनैव शरीरं प्राप्ता अन्नादिपदार्थाः कृत्स्नं शरीरं यथा पुष्णन्ति, तथा अग्निमुखेन सर्वे देवा हवींषि सम्प्राप्य पुष्णन्ति। तदुक्तं- "**अग्निर्वै देवानां मुखम्।**"[४६] वेदोक्तोऽयं द्रव्ययज्ञः ब्राह्मण-मीमांसा-कल्पसूत्रादिषु सविस्तरं व्याख्यायते। अनेन यज्ञेन समाजस्य कल्याणं भवति, रोगनिवारणं, स्वास्थ्यं च सञ्जायते, पर्यावरणमपि शुद्ध्यति, वृक्षौषधिवनस्पतयः समृध्यन्ति, येन अद्य सम्मुखीक्रियमाणाः अतिवृष्ट्यनावृष्टिवायुकालुष्य भूमण्डलतापादिसमस्याः परिह्रियन्ते। तदुक्तं- "**आयुर्यज्ञेन कल्पताम्**"[४७] "**तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु।**"[४८] "**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः**

---

[४४] यजुर्वेदः - ३.१

[४५] यजुर्वेदः - १.१३

[४६] शतपथब्राह्मणम्

[४७] यजुर्वेदः - १८.२९

[४८] अथर्ववेदः - ४.१५.१६

प्रजाः''[४९] इति। एवं स्थिते मनुष्येषु परस्परं याः समस्याः सन्ति, तासां परिहारः पितृयज्ञ-अतिथियज्ञ- ज्ञानयज्ञादिभिः सम्भवति। ज्ञानयज्ञः ऋग्वेदस्य ज्ञानसूक्तेन प्रेर्यते, तत्र ज्ञानप्रशंसां भवत्यज्ञाननिन्दा च।[५०]

एवञ्च समाजे यथा यथा यज्ञभावाः यज्ञकर्माणि चैधन्ते, तथा तथा तस्य कल्याणमप्येधते। सर्वाणि श्रेष्ठकर्माणि यज्ञपद्धत्या सम्भवन्तीत्यत्र शुक्लयजुर्वेदस्य अष्टादशोऽध्यायः प्रमाणं, यत्र सर्वाणि श्रेष्ठकर्माणि निर्दिश्य यज्ञेन कल्पन्ताम्इत्युच्यते। किमधिकेन, परमाणुमारभ्य ब्रह्माण्डपर्यन्तं कृत्स्नमिदं विश्वं यज्ञेनैव अन्योन्यसंश्रितं अन्योन्यसम्बद्धञ्चास्ति। तदुक्तम्- **अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः**''[५१] इति। प्रजापतिना क्रियमाणो यः समष्टियज्ञः, सः अतिशयपरिपूर्णोऽस्ति। मनुष्येण स्वबुद्ध्या क्रियमाणो व्यष्टियज्ञस्तु दोषबहुलोऽस्ति। प्रजापतिः स्वेन क्रियमाणं यज्ञं वेदोपदेशरूपज्ञानयज्ञेन विवृणोति। वेदोक्तयज्ञैः, वैदिकयज्ञमयजीवनपद्धत्या च देवा इव मनुष्योऽपि समष्टियज्ञस्याङ्गं सम्पद्यते, येन विश्वस्य कल्याणं तन्मूलकतया मनुष्यस्यापि कल्याणं सम्बोभवीति।

---

[४९] मनुस्मृतिः - ३.७६

[५०] ऋग्वेदः - १०.७१

[५१] यजुर्वेदः - २३.६२

वेदों में विश्वबन्धुत्व के सूत्र

डॉ० वेदव्रत[१]

पावनी भगवती श्रुति अनादि काल से ही अपनी अविरल निर्मल ज्ञान की धारा से मानव के कलुषित अन्तःस्थल को पुनीत करती आ रही है। वैदिक साहित्य विश्व साहित्य का आदिकाव्य है। सृष्टि के आदि में तपोनिष्ठ शिष्ट विशिष्ट ऋषि-मुनियों के निर्मल अन्तःकरण में वैदिक-ज्ञान-विज्ञान प्रकाशित हुआ। वैदिक-ज्ञान-राशि इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट की निवृत्ति में परमसहायक है। सांसारिक यात्रा में सम-विषम समस्त प्रकार के पथ को प्रदर्शित करने के लिए यह ज्ञानराशि सनातन चक्षु स्वरूप है–

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥[२]

यह ज्ञानराशि संसार के सकल ज्ञान विज्ञान एवं धर्मों का मूल है। इसीलिए महर्षि मनु ने वेदों को **सर्वज्ञानमयो हि सः**[३] तथा **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**[४] के रूप में प्रतिपादित किया है। वेद धर्म, सम्प्रदाय, जाति, क्षेत्र एवं काल-विशेष की सीमा में आबद्ध नहीं हैं अपितु ये सार्वभौम एवं

---

१ **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगडी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार**

२ मनु० १२.९४

३ मनु० २.७

४ मनु० २.६

सार्वकालिक हैं। वेद का ऋषि डिण्डिम समुद्घोष के साथ कहता है- **अहं भूमिम् अददाम आर्याय**। मन्त्रद्रष्टा ऋषि के दृढ उद्घोष में धर्म, जाति, क्षेत्र अथवा सम्प्रदाय का उल्लेख कदापि नहीं है। कर्त्तव्य कर्मों को करने वाला तथा अकर्त्तव्य कर्मों का परित्याग करने वाला व्यक्ति आर्य कहलाता है-

कर्त्तव्यमाचरन् कार्यमकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्टति प्रकृताचारे स आर्य इति उच्यते॥

वेद किसी व्यक्ति विशेष के प्रति दुराग्रह प्रकट न करते हुए समभाव एवं सद्भाव से सभी वर्गों के लिए कल्याण, अभ्युदय एवं श्रीवृद्धि हेतु मंगल प्रार्थना करता है-

रूचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥[५]

वेद की सार्वभौमता एवं सार्वकालिकता से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि यह ज्ञान-राशि विश्वबन्धुत्व के सन्देश की आदि संवाहिका है। वेद की प्रत्येक ऋचा विश्वबन्धुत्व का उपदेश देती है।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥[६]

उक्त श्लोक लोक में विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रतिपादक है। इस लौकिक छन्द का मूल भी कहीं न कहीं वैदिक छन्द ही हैं -

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद्, यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।[७]

वेद का महामना मनीषी ऋषि उक्त मन्त्र के माध्यम से सर्व संसार को एक ही परिवार के समान निरूपित करता है। इसीलिए संसार के सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने का आदेश देता है-

---

[५] यजु० १८.४८

[६] महोपनिषद् ४.७१

[७] यजु० ३२.८

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।[८]

इसके साथ ही महामना उदारचेता वेद का ऋषि समस्त सम्प्रदाय एवं क्षेत्र की भावना से मुक्त होकर कहता है कि केवल मेरे धर्म को मानने वाले ही नहीं अपितु संसार की समस्त दिशाओं में निवास करने वाले प्राणी मेरे मित्र हों-

अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।[९] ऐसा उदात्त चिन्तन विश्व के अन्य साहित्य में मिलना सुदुर्लभ है। मित्रत्व की दृष्टि से संसार के समस्त प्राणिओं के देखने से न केवल बन्धुता की वृद्धि होती है अपितु जो व्यक्ति सभी को आत्मवत् देखने लगता है, उसके समस्त शोक, मोह, द्वेष आदि समाप्त हो जाते हैं तथा वह संसार में किसी से घृणा नहीं करता है। यजुर्वेद का मन्त्र इसमें प्रमाण है-

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥[१०]
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो नो विचिकित्सति॥[११]

इसीलिए अथर्ववेद का ऋषि आदेश देता है कि हम सभी को समभाव से देखें- **प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रम् उतार्ये।**[१२]

एक साथ भोजन करने से आत्मीयता की वृद्धि होती है। इसीलिए

---

८ यजु० ३६.१८

९ अथर्व० १९.१५.५

१० यजु० ४०.७

११ यजु० ४०.६

१२ अथर्व० १९.६२.१

वेद का ऋषि भी यह कामना करता है कि हम सब भोजन, दुग्ध अथवा जल का पान एक साथ मिलकर करें- **सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे ।**[१३]

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः ।[१४]

सर्वविदित ही है कि एक साथ मिलकर भोजन करने से परस्पर प्रीति की वृद्धि होती है। उपनिषद् भी इसका समर्थन करती है-

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद् विषावहै ॥

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक मन्त्रों में वेद का ऋषि प्रतिपादित करता है कि हम सब एक ही ईश्वर की सन्तान हैं-

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः ।[१५]
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता ।[१६]
त्वं हि नः पिता वसोः त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।[१७]

अर्थात् हम सब एक ही परमपिता परमेश्वर की सन्तति हैं।

अथर्ववेद के भूमिसूक्त में इस भावना को और अधिक दृढ शब्दों में प्रतिपादित किया गया है। मन्त्र का ऋषि कहता है कि सकल भोगोपभोग को प्रदान करने वाली यह भूमि हम सबकी माता है तथा हम सब इसकी सन्तति हैं- **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।**[१८]

जब हम सब एक ही ईश्वर की सन्तान हैं तो हमारी पारस्परिक बन्धुता स्वतः ही सुस्पष्ट ही है ।

---

[१३] यजु० १८.९

[१४] अथर्व० ३.३०.६

[१५] श्वे०२.३

[१६] अथर्व० २.६.३

[१७] अथर्व० २०.१०८.२

[१८] अथर्व० १२.१.१२

वैदिक बन्धुत्व की भावना केवल मानव मात्र तक सीमित नहीं है, अपितु मानवेतर प्राणियों के लिए भी वहाँ अभय और कल्याण का भाव व्यक्त किया गया है। यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र का अंश इस प्रसंग में उद्धरणीय है- **यजमानस्य पशून् पाहि।**[१९]

इसी प्रकार यजुर्वेद के ३६वें अध्याय का २२वाँ मन्त्र भी इसी प्रकार के भावों को व्यक्त करता है-

यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु।

शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं न पशुभ्यः॥[२०]

अर्थात् आप हमारी सन्तति और हमारे पशुओं को अभय प्रदान करें। वेद का कोई भी मन्त्र निरपराध प्राणी की हिंसा का न आदेश देता है, न उपदेश देता है और न ही समर्थन करता है। अपितु वेद का महामना मनीषी ऋषि परस्पर एक दूसरे के संरक्षण की बात करता है। इस प्रसंग में ऋग्वेद के छठे मण्डल का मन्त्र भी स्मरणीय है- **पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।**[२१] अर्थात् प्रत्येक मानव प्रत्येक मानव की सहायता के लिए सदैव तत्पर रहे। इस प्रसंग में अथर्ववेद के ऋषि का वचन अत्यन्त उपादेय है-

जीवास्थ जीव्यासम अर्थात् स्वयं जियो तथा दूसरों को भी जीने दो।

ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल का अन्तिम सूक्त विश्वबन्धुत्व की भावना का सरलता और सहजता से प्रचारक प्रसारक है-

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।

इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥

---

[१९] यजु० १.१

[२०] यजु० ३६.१७

[२१] ऋग्० ६.७५.१८

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानमन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वा।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥[२२]

अर्थात् हमारे मन, वचन, कर्म एवं हृदय सब समान हों। विश्वबन्धुत्व की भावना के प्रचार-प्रसार के लिए इससे अधिक सुन्दर और उपयुक्त उपदेश और हो ही नहीं सकता।

अथर्ववेद का ऋषि इसी भाव को सुन्दर उपमा के साथ प्रस्तुत करता है-

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषा कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभि हर्यत जातं वत्समिवाघ्न्या॥[२३]

अर्थात् हम सबके हृदय समान हों, हम परस्पर विद्वेष करने वाले न हों, जैसे गाय अपने बछडे से स्नेह करती है, उसी प्रकार से हम परस्पर स्नेह करते हुए एक दूसरे के हित को सम्पादित करने वाले हों।

वर्त्तमान समय में अनेकेश्वरवाद की अवधारणा मानव के पारस्परिक विद्वेष एवं वैमनस्य का एक प्रमुख कारण है। धर्म सम्प्रदाय विशेष के उपास्यदेव एवं पूजापद्धति की सर्वस्वीकार्यता न होने से समाज विखण्डन की अवस्था को प्राप्त हो रहा है। यह सामाजिक वैमनस्य एवं विद्वेष विश्वबन्धुत्व के प्रचार प्रसार के लिए अत्यन्त घातक है। इसका

---

[२२] ऋग्० १०.१९१. १.४

[२३] अथर्व० ३.३०.१

समाधान वेद प्रतिपादित एकेश्वरवाद के समर्थन से ही सम्भव है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः[२४]

अर्थात् एक ही परमतत्त्व गुण धर्म के अनुसार इन्द्र, वरुण आदि अनेक रूपों में स्तूयमान होता है, परमार्थतः वह एक ही है ।

अन्यत्र भी कहा गया है-

तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति[२५]

एक ही इन्द्र अपनी माया के कारण अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है।

यही भाव ऋग्वेद के इस मन्त्र में भी स्पष्ट किया गया है-

य एक इत् तमुष्टुहि विचर्षणि। पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः।[२६]

अर्थात् जो एकाकी सबसे बलवान् और सबका ईश्वर है, वही प्रभु सबको देखने वाला है, अतः उसी की उपासना करो।

ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त का मन्त्र भी यही भाव प्रकट करता है-

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।[२७]

वेद के उपर्युक्त मन्त्रों से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, पूजा आदि की विधि एवं पद्धति में भेद सम्भव है किन्तु यथार्थ में परमार्थतत्त्व एक ही है।

---

[२४] ऋग्० १.१६४.४६

[२५] बृहदारण्यकोपनिषत् २.५.१९

[२६] ऋग्० ६.४५.१६

[२७] यजु० १३.४

यह निर्विवाद एवं सर्वमान्य सिद्धान्त है कि वेद का ज्ञान व्यक्ति विशेष के लिए न होकर मानवमात्र के लिए है। इसीलिए वेद का ऋषि मानवमात्र को उपदेश देता है कि तुम क्षुद्रता का परित्याग कर महान् बनो तथा महापुरुषों का सम्मान करो। ज्ञान विज्ञान से युक्त होकर क्षुद्रता से मुक्त होकर उन्नत बनो, भेदभाव के स्वभाव से मुक्त हो समवेत होकर कार्यसिद्धि के लिए प्रयत्न करो तथा परस्पर मधुर वचन बोलते हुए सांसारिक यात्रा को सम्पन्न करो। एतदर्थ मैं तुम्हें समान मन और समान शक्ति से सम्पन्न बनाता हूँ-

ज्यायास्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्योऽस्मै बल्गु वदन्त एवं सध्रीचीनान्वः समनस्कृणोमि॥[२८]

वस्तुतः विश्व में विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रचार-प्रसार तभी सम्भव है, जब सभी मानव समान भाव से शिक्षित हों। सम्भवतः इसीलिए वेद का ऋषि सभी को समान भाव से शिक्षा प्रदान करने का निर्देश देता है-

यथेमां वाचं कल्याणीमावादानि जनेभ्यः।
ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥[२९]

वेद में सर्वत्र समष्टिगत भाव से मंगलकामना की गई है-

वयं स्याम पतयो रयीणाम्।[३०]

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।[३१]

---

[२८] अथर्व० ३.३०.५

[२९] यजु० २६.२

[३०] यजु० १९.४४

[३१] ऋग्० १.१८९.१

योगक्षेमो नः कल्पताम्।[३२]

धियो यो नः प्रचोदयात्।[३३]

इससे भी स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि विश्वबन्धुत्व की भावना के पोषक और प्रदाता थे।

अन्त में निष्कर्षरूप में यही कहा जा सकता है कि वर्तमानकाल में मानवता सबसे भीषण संकट के समय से गुजर रही है। जाति, सम्प्रदाय, धर्म, मासांहार आदि के लिए एक प्राणी दूसरे प्राणी का शत्रु बना हुआ है। धन सम्पत्ति के लिए भाई-भाई के प्राण हर रहा है। पारस्परिक सम्बन्धों के बन्धन आधुनिककाल में शिथिल होने लगे हैं। उक्त सभी समस्याओं का समाधान विश्वबन्धुत्व की भावना के प्रचार-प्रसार से ही सम्भव है। जब हम सब उसी एक परमपिता की सन्तान हैं। हम सब परस्पर बन्धु हैं। हम सबका अस्तित्व समान है। न कोई लघु है, न कोई दीर्घ है।[३४] अतः हम सब क्षुद्रता के भाव से मुक्त होकर विराट् व्यक्तित्व की धनी बने तथा तथा मिलकर विश्व कल्याण एवं सौभाग्य के लिए प्रयासरत हों, तभी वेद ज्ञान की सार्थकता सम्भव है।

---

[३२] यजुर्वेद २२.२२

[३३] ऋग्० ३.६२.१०

[३४] अज्येष्ठासो अकनिष्ठास ये ते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ऋग्० ५.६०.५

उपनिषत्सु शिक्षणविधयः

डॉ. रुद्रनारायणनरसिंहमिश्रः[१]

अध्यात्मदर्शनस्य भारतीयदर्शनानाञ्च रहस्यं तेषां विकासस्य वैशिष्ट्यञ्च मूलतः वेदसाहाय्येनैव ज्ञेयं भवति। वेदानां महत्वदृष्ट्या विचार्य्यते यत् पाश्चात्याः समीक्षकाः विपश्चितो वेदान् ऋषिप्रणीतान् मन्यन्ते, परञ्च भारतीयाः मेधाविनः न मन्यन्ते। तन्मते ऋषयो वैदिकमन्त्राणां द्रष्टारः सन्ति न कर्त्तारः। अलौकिकसामर्थ्यशालिन ऋषयो दिव्यया प्रतिभया मन्त्राणां दर्शनं लब्धवन्तः।

प्रधानरूपेण वैदिकसाहित्यं चतुर्विधं संहिता, ब्राह्मणग्रन्था, आरण्यकानि उपनिषदश्च। तत्र ब्राह्मणं गृहस्थानां कृते उपयोगि यज्ञस्वरूपप्रतिपादकञ्च। आरण्यकम् वानप्रस्थानां कृते उपयोगि। उपनिषदः सन्न्यस्तानां कृते उपयोगिन्यः ब्रह्मबोधिकाः मोक्षसाधनानि। वेदस्यान्तरूपतया वेदान्त इत्युच्यते। ब्रह्मणः प्राप्तेश्च एकमात्रं साधनं ब्रह्मविद्या, ब्रह्मज्ञानं वास्ति। यया विद्यया येन ज्ञानेन वा ब्रह्मणः सामीप्यं, साक्षात्कारं, प्राप्तिर्वा भवति, सा विद्या, तज्ज्ञानं वोपनिषदित्युच्यते।

कठोपनिषदः शाङ्करभाष्ये आचार्यशङ्करः प्रकाशयति यदुपनिषच्छब्दः विशरण-गति-अवसादनार्थकः, उप, नीत्युपसर्गपूर्वकः सद् धातुः। तस्मात् क्विप् प्रत्यये कृते सत्युपनिषच्छब्दो निष्पद्यते। उपनिषत्सु प्रतिपाद्यं वस्तु

---

[१] **अतिथिअध्यापकः, शिक्षाशास्त्रविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, (मा.वि.वि.), लखनऊपरिसरः, लखनऊ**

ब्रह्मैव। अतः ब्रह्मसम्बद्धविद्यायाः नामोपनिषज्जातं, यया मुमुक्षुभ्यो ब्रह्मप्राप्तिः भवति। ब्रह्मविद्यायाः प्रतिपादकत्त्वात् ग्रन्थस्याप्युपनिषदिति नामाभवत्। यथा- आयुर्वृद्धिकरत्वेन घृतस्यापि आयुरित्येवाभिधानं प्रसिद्धम्। तद्यथा-सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप् प्रत्ययनान्तस्य रूपमुपनिषदिति। **उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दोत्त्वोपपत्तेः आयुर्वै घृतमित्यादिवत्।**[२]

तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये स्वसेवकस्य मानवस्य गर्भ-जन्मादीनामुच्छेदः, एतयोर्नाशः एतेन कारणेन उपनिषच्छब्दस्य विद्या इत्यर्थोऽजायत। अतः विद्यैवोपनिषद् इत्युच्यते। **तद्यथा- उपनिषदिति विद्योच्यते। तच्छीलिनां गर्भजन्मजराशितात्तदवसादनाद्वा ब्रह्मणो वा उपनिगमयितृत्वादुपनिषदां वा अस्यां परं श्रेय इति, तदर्थत्वाद् ग्रन्थोऽप्युनिषत्।**[३]

बृहदारण्यकोपनिषद्वार्त्तिकसारे लिखितं यत् जन्ममृत्युसंसारबन्धनात् अज्ञानाद्वोच्छेदो यया विद्यया भवति, सोपनिषद्। तद्यथा-

त्रिवधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम्।
उपनीयेयमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः॥
निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद् भवेत्।
निहन्त्यानर्थमूलं सा विद्यां प्रत्यक्ततया परम्॥
गमयत्यस्तसंभेदमतो वोपनिषद् भवेत्।
प्रवर्त्तितहेतून्निशेषांस्तन्मुलोच्छेदकत्त्वतः॥[४]

औपनिषदशिक्षायाः मूलं ब्रह्मविद्यैवासीत्। उपनिषद्वाङ्मये

---

२ कठोपनिषद्शाङ्करभाष्येप्रस्तावनायाम्पृष्ठम्०३

३ वैदिक, डॉ. वेदवती, श्वेताश्वेततरोपनिषद्दार्शनिक अध्ययन, प्रथमाध्याय

४ वेदालङ्कार, डॉ. जयदेव., (१९८७), उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, प्रथम अध्याय२२

परमगुह्यतत्त्वानि निहितानि आसन्। तव एते गुह्या आदेशाः.......।[५] ऋषीणामादेशाः अपि गुह्या एवासन्। दर्शनवर्णनरूपोभयविधामाध्यमेन शक्तिभ्यां च सम्पन्नाः ऋषयः स्वीयाः सहजानुभूतीः विद्वत्सङ्गोष्ठीषु संवादमाध्यमेन स्वेभ्यः मुमुक्षुशिष्येभ्यः उपादिशन्।

उपनिषद्वाङ्मये संवादविधिः अत्यन्तमहत्त्वपूर्णविधिरासीत्। यतो हि सम्पूर्णज्ञानम् औपनिषदसम्बद्धम् अनेन विधिना उपलब्धो भवति स्म। इदं वाङ्मयं, तत्त्वचिन्तनपरकं संवादगोष्ठीभ्यः निस्सृतमस्ति। सम्पूर्णवाङ्मयम् अनेन विधिना ओतप्रोतमस्ति। छान्दोग्योपनिषदि संवादाः प्राप्यन्ते यथा- महर्षि-उद्दालकारुणि-श्वेतकेतुसंवादः[६]।

महर्षिसत्यकाम-जाबालस्य प्रथमतः संवादः महर्षिहारिद्रमतेन सहाभवत्। जाबालः उपनीय हारिद्रमतात् ज्ञानं प्राप। तत्पश्चात् स्वान्तेवासिभ्यः ज्ञानमदात्। महर्षिसत्यकाम तादृशः ऋषिः यस्य प्रस्तावः छान्दोग्योपनिषदि शिष्यगुरुरूपेण च मिलति।[७]

स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तम्।

यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथातस्तत्तामेव मे ब्रूहीति।

स ह कृच्छ्री बभूव।[८]

सः तत्त्ववेत्ता महर्षिः उद्दालक आरुणिः यदा पाञ्चालनरेशस्य राजर्षिप्रवाहणजैबलसमीपं पञ्चाग्निविद्यायाः ज्ञानप्राप्तये गतवान् तदा राजा सर्वप्रथमं तस्य स्वागतसत्कारम् अकरोत्। प्रातःकाले यदा ते राजसभायां

---

५ ३५२

६ ६२

७ ४४४ तः ९ यावत्

८ ५३६,७

प्रविशन्ति तदा महर्षिः गौतमः राज्ञः समीपं गतवान्। तदा राजा उक्तवान् यत् हे गौतम! मानुषवित्तं गोग्रामादिरूपं वरं पृच्छतु इति। तदा महर्षिगौतमः समादधत् यत् भवान् मम पुत्रं श्वेतकेतुं पञ्चाग्निविद्यायाः विषये पञ्च प्रश्नान् पृष्टवान् तदा तेषामुत्तरं ज्ञातुम् अहम् भवतां समीपमागतवान्। एतद् श्रुत्वा राजा चिन्तितः अभवत्। परन्तु राज्ञा एतच्चिन्तितं यत् ब्राह्मणस्य अनादारं न करणीयम् इति। तथा विद्यायाः नियमानुसारमपि उपदेशः प्रदातव्य एव। फलस्वरूपं राज्ञा ऋषये उक्तं यत् हे गौतम! अत्र चिरकालं यावत् तिष्ठ। पूर्वकाले एषा पञ्चाग्निविद्या ब्राह्मणानां समीपं न गतवती। अतः सम्पूर्णलोके क्षत्रियाः यावन्तः सन्ति ते केवलं क्षत्रियशिष्येभ्य एव प्रदत्तवन्तः। इयं परम्परा विद्यते। परन्तु अहम् भवते इमां विद्यां प्रदास्यामि। ततः एषा विद्या भवता ब्राह्मणानां समीपं गमिष्यति।[९]

अनेन ज्ञायते यत् राज्ञा ऋषये मानुषवित्तस्य प्रलोभनं प्रदत्तम्। परन्तु ऋषिणा न स्वीकृतम्। अतः राजा प्रवाहणोऽपि स्वकीयां परम्परां विहाय महर्षये गौतमाय पञ्चाग्निविद्यां प्रायच्छत्।

उपर्युक्तोदाहरणैः प्रतीयते यत् अध्यात्मविद्यायाः कोऽपि जिज्ञासुः यदि आगच्छति तस्मै विद्या तु बोद्धव्या एवास्ति। भवतु नाम, महर्षिः गौतमः, ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी, श्रेयमार्गानुसारी नचिकेता वा। एते सर्वे अभ्युदयलाभाय भौतिकसुखानां प्रलोभे अपतित्वा अविचलिताश्च भूत्वा ब्रह्मविद्याप्राप्तये अधिकारिणः सञ्जाताः आसन्। आत्मतत्त्वस्य जिज्ञासवोऽभूवन्। सङ्कल्पस्य दृढनिश्चयाः अध्यात्मविद्यायाः यथार्थपथिकाश्च आसन्। साधनां चाकुर्वन्।[१०]

---

९ ५३६,७

१० छा.उप. ६९१,६१०१,६१३१

महर्षिः आरुणिः स्वपुत्रं श्वेतकेतुं पाठयन् अनेकप्रकारान् लौकिकदृष्टान्तान्प्रतिपाद्य दार्शनिकसूक्ष्मतत्त्वानां व्याख्यामकरोत्। महर्षिः उद्दालक आरुणिः पुत्राय तत्त्वमसि इत्यस्य उपदेशसमये लौकिकजगतः नवप्रकारकान् दृष्टान्तान् प्रत्यपादयत्। आत्मपरमात्मनोः अभेदप्रतिपादने निम्नानुसारेण दृष्टान्तान् प्रतिपादितवान्।[११]

ऋषिभिः निगूढतत्त्वानां बोधनाय, शिष्येभ्यः गुह्यज्ञानप्रदानाय, संवादेषु नैके व्याख्यानविधयः स्वीकृताः। ऋषिभिः लौकिकजीवनात् अनेकदृष्टान्ताः संगृह्य दार्शनिकसूक्ष्मतत्त्वानां व्याख्यानमकारि।

बृहदारण्यकोपनिषद्यपि महर्षिणा याज्ञवल्क्येन विधिरयम् अनुकृतः, अनुसृतश्च। यथा- आत्मनः अनुभूतिकारणाय दुन्दुभि-शंख-वीणेत्यादयः दृष्टान्ताः स्वीकृताः। अतः दार्शनिकसूक्ष्मतत्त्वानामवबोधनाय ऋषिभिः संवादेषु दृष्टान्तविधिः प्रयुक्तो विद्यते।[१२]

अनेन प्रकारेण विभिन्नलौकिकदृष्टान्तानां माध्यमेन श्वेतकेतुं पाठयन् उक्तवान् यत् त्वमेव आत्मतत्त्वमसि। त्वमेव सदसि। अर्थात् **तत्त्वमसि** इति।

उपनिषद्वाङ्मये बहुत्र कथापद्धतिरपि प्रयुक्ता दृश्यते। विषयकाठिन्यस्थलेषु जामितां दूरीकर्तुं कथाः अतीवयोग्याः भवन्ति। कथामाध्यमेन कठिनोऽपि विषयः सरलो भवतीति विधिरयं निरूपयति। कथाश्रवणे शिष्याः उत्साहं प्रदर्शयन्ति। केनोपनिषदि यत्रोपाख्यानद्वारा अहङ्कार ब्रह्मज्ञानस्य अवरोधकः भवति, तस्य नाशं ब्रह्मज्ञानं साधयतीति उपदिशति महर्षिः।

---

[११] ६८७

[१२] २४८,९

केनोपनिषदि[१३] उमायाः हैमवत्याः इन्द्रस्य आख्यायिका अत्रोदाहरणम्। यथा इन्द्रियाणां सर्वेषामहमेव ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च इति विवदमानानां ब्रह्म प्रतिगमनमाख्यातं छान्दोग्ये[१४] काठके[१५] नचिकेतोपाख्यानं तु विद्यास्तुत्यर्थम्।

शौवोद्गीथयोः मनोहरकथाः व्यङ्ग्यशैल्याम् उपलब्धाः भवन्ति।

यथा- **अथातः शौव उद्गीथः।**[१६]

किं नाम सूत्रम्- इति विवक्षायां दुर्गसिंहेन सूच्यते सूते, सूत्रयति वा सूत्रमिति यत्। अपि च-

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥
लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥

अत्यन्तगुह्यम् उपनिषद् वाङ्मयं बोधगम्यं विधातुं महर्षिभिः सूत्रशैल्याः प्रयोगो विहितः। अनया शैल्या ऋषिभिः सम्पूर्णविचारतत्त्वानि अल्पेन भावपूर्णवाक्येन समाहृत्य अभिव्यक्तीकृतः। यथा- **तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि**[१७]**, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म** च। अस्याः सूत्रशैल्याः अनुशीलनं कृत्वैव दर्शनसूत्राणां, कल्पसूत्राणां, धर्मसूत्राणां, गृह्यसूत्राणां, शुल्वसूत्राणाञ्च सृष्टिर्जाता।

---

[१३] केनोपनिषद् २.३

[१४] छान्दोग्योपनिषद् ५.१.६.१५

[१५] काठके १.२

[१६] ३१९१

[१७] १४७

अत्यन्तगुह्यस्य उपनिषद्वाङ्मयस्य अवबोधनाय ऋषिभिः सूत्रशैल्याः प्रयोगः कृतः। सूत्रशैली अत्यन्तोपयुक्ता शैली अस्ति।

समन्वयविधेः अपरनाम समाहारविधिः। बोकिल् महोदयः नवीनविधिः, आप्टे महाशयः मनोवैज्ञानिकविधिः इति, ह्यूपरिकर् विश्लेषणात्मकविधिः अवदत्। अमुमेव विधिमाश्रित्य केचन प्रसिद्धग्रन्थाः लिखिताः। यथा - प्रो. ह्यूपरिकरः Tha Problem of Sanskrit Teaching, प्रो. बोकिल् महोदयः A New Approach of Sanskrit Teaching, Prof. D.G. Apte and Prof. P.K. Dogre - Teaching of Sanskrit in Secondary Schools. आङ्गलभाषायां Eclectic Method इति नाम वर्त्तते। एतस्य शब्दस्यार्थः भवति- The doctrine /principle of selecting the best from every source.

भाषाशिक्षणसिद्धान्तानामुपरि अवश्यं ध्यानं देयम्। एतदर्थं मनोवैज्ञानिकप्रक्रियाद्वारा संस्कृतशिक्षणं भवतु। शब्दावलिः, रचना, अनुवादः, कविता, गद्यं, व्याकरणम् इत्यादीन् सर्वान् विषयान् सम्मिल्य संस्कृतस्य सम्पूर्णज्ञानं प्रदेयम्। उच्चारणेन, मौखिकाभ्यासेन, लेखनेन भाषायाः अभ्यासः कारणीयः। मौखिककार्यं प्रारम्भिकावस्थायां भवति। भाषायाः शिक्षणं मौखिकविधिद्वारा कृत्वा ततः पाठ्यपुस्तकस्य परिचयः प्रदेयः। प्राथमिकावस्थायां व्याकरणपाठनं किञ्चिदेव भवति। माध्यमिकस्तरे मूलपाठः भवति। प्रसङ्गानुसारेण अनुवादः पाठ्यते। उच्चस्तरे व्याकरणग्रन्थानामध्ययनं भवति। व्याकरणेन सह अनुवादस्यापि अभ्यासः विधीयते। प्राथमिकस्तरे केवलं मौखिकाभ्यासः। माध्यमिकस्तरे तु लेखनाभ्यासोऽपि भविष्यति। भाषायाः शिक्षणावसरे

दृश्यश्रव्योपकरणानाम् उपयोगः क्रियते। सर्वाङ्गीणविकासाय पाठ्यान्तरप्रक्रियाः भवन्ति। परीक्षणं मूल्याङ्कनं च नूतनमनोवैज्ञानिकपद्धत्या क्रियते।

नियोजिताध्ययेन (Programmed Learning), संरचनात्मक विधिमाध्यमेन (Structural Approach) अस्मिन् विधौ शिक्षणं भवति।

केचन आङ्गलभाषायाम् एतमेव विधिं The Doctrine Method इत्यपि निगदन्ति। सर्वासां पद्धतीनां गुणान् स्वीकृत्य, दोषान् त्यक्त्वा इयं पद्धतिः प्रवृत्ता भवति।

छान्दोग्योपनिषदि संवादसमये सृष्टिविधानशास्त्रस्य तत्त्वज्ञानिनां षण्णाम् ऋषीणां, षण्णां विभिन्नप्रकारकाणां सिद्धान्तानां समन्वयनाय अयं विधिः प्रयुक्तः।[१८]

कुत्रापि कस्यापि शब्दस्य अर्थविषये सन्देहो जायते, तदा तस्य शब्दस्य व्युत्पत्तिः परिशीलनीया इति आचार्याणां मतम्। उपनिषत्सु बहवः शब्दाः सन्दिग्धाः भवन्ति। तेषां व्युत्पत्त्या एव सन्देहदूरीकरणं सम्भवति। उदाहरणार्थं स्वपिति, पिपासति इत्यादयः शब्दाः।

"यत्रैतत्पुरुषः पिपासति, तेज एव तत् पीतं नयते" अत्र वाक्ययोः स्वपिति क्रियापदस्य 'स्वे' सत्पदार्थे अपीतो भवति लयं गच्छतीति इत्यनेन सुषुप्तौ आत्मनः सत्पदार्थे लयः उपदिश्यते। तथैव बुभुक्षार्थितस्य अशनया इति पदस्य विभागद्वयं दर्शयित्वा अशितं जग्धं नयन्ति इति व्युत्पत्त्या आपः अशनाय शब्दवाच्यः इत्युपदिश्यते। एवं पिपासापदस्य पीतं जलं नयति सोषयति इत्यर्थाङ्गीकरणेन पिपासा शब्दस्य एकः एवार्थः इति

---

[१८] ५।११।१४

व्युत्पत्त्या ज्ञायते।[१९] हृदयशब्दस्य व्युत्पत्तिं कुर्वन् कथयति यत् आत्मा हृदये अस्ति। इयमेव हृदयशब्दस्य निरुक्तिः वर्तते।

स्वपिति-

यत्रैत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनँ स्वपितीत्याचक्षते स्वँ ह्यपीतो भवति।[२०]

जाग्रदवस्थायां मनुष्यः सांसारिकभोगान् अनुभवन् क्रियाशीलो भवति। अर्थात् अलसो भवति। सुषुप्ति- अर्थात् स्वपितिः सम्पूर्णः इन्द्रियवर्गः प्राणे लीनो भवति। केवलं प्राणः एवाश्रान्तः स्थित्वा देहरूपगृहे जागरूकतया निवसति। स्वपितौ सः प्राणः स्वस्य सत्स्वरूपं प्राप्नोति।

तत्त्वज्ञानिनः ऋषयः प्रश्नस्य परिधावेव शिष्येभ्यः उत्तरं ददति स्म। ते प्रसङ्गस्य प्रयोजनतायां निरन्तरं ध्यानं प्रायच्छन्त। इन्द्रविरोचनयोः प्रसिद्धकथायां प्रजापतिः तत्त्वज्ञानस्य सम्पूर्णरहस्यं सपदि एव न उपदिशति स्म। तत्त्वज्ञानस्य रहस्यं किञ्चित् किञ्चित् बोधयित्वा स्वाभीष्टज्ञानाय अधिकारिणः सिद्धाः क्रियन्ते स्म।

अतः औपनिषददर्शनमीमांसायां प्रजापतेः इन्द्रविरोचनयोश्च संवादः प्रयोजनविधेः प्रमुखमुदाहरणं विद्यते।

शिक्षणाय ऋषिभिः सूत्रशैल्या सह एकाक्षरविधिः अपि स्वीकृतः। अस्यामुपनिषदि अस्य प्रयोगः सम्यक्तया विहितः। यथा-

त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमुषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा इति व्यज्ञासिष्मेति। एषा देवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द

---

[१९] छान्दोग्योपनिषद् ६.८.१,४

[२०] ६८१

दद इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत् त्रयँ शिक्षेद्दमं दान दयामिति।[२१]

प्रजापतिः स्वेभ्यः त्रिभ्यः देवमानवासुरेभ्यः पुत्रेभ्यः द इत्येकाक्षरमुपदिदेश। तथा तानपृच्छत् यत् यन्मया तेभ्यः उपदिष्टं तेन भवन्तः किमप्यवगताः? इति। तदा देवैः उक्तम् यत्- अवगता वयं, इन्द्रियाणां दमनं करणीयम्। मानवैः उक्तम्- सांसारिकवस्तूनां सङ्ग्रहणमकृत्वा दानं करणीयम्। असुरैः उक्तम्- प्राणिषु सर्वेषु दया करणीया।

अत्र सम्पूर्णशिक्षा केवलम् एकस्मिन् एवाक्षरे दकारे विद्यते। प्रजापतिना द इति एकाक्षरविधिः उपयुक्तः यया सम्पूर्णमानवजातेः जीवने गुणवत्तायाः आधानायोपदेशः दत्तः, स उपदेशः सार्वकालिकः, सार्वजनीनः, सार्वभौमश्च।

प्रश्नोपनिषद् पत्रकारविधेः सामान्यपरिचयं प्रददाति। तत्र उक्तं वर्तते यत् **"ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्ययनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः।"**[२२]

आश्वलायनः कौसल्यं पृच्छति यत्- कुतः प्राणः उत्पद्यते। कथम् अस्मिन् शरीरे प्राणः आगच्छति? तथा च विभज्य केन प्रकारेण स्थितं वर्तते। पुनः कस्मात् कारणात् शरीरात् उत्क्रमते। केन प्रकारेण बाह्यं आभ्यन्तरं च शरीरं धारयति? तद्यथा-**"अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः**

---

[२१] ५२१, ५२३

[२२] प्रश्नोपनिषद् १.१

[६१] प्रश्नोपनिषद् ३.१

प्रपच्छ। भगवन् कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति।"[२३]

ऋषयः रहस्यात्मकं गूढतत्त्वम् उपदेष्टुं रूपकविधिमपि उपयुक्तवन्तः। माण्डूक्योपनिषदि **'द्वा सुपर्णा'** इत्यादिना जीवात्मपरमात्मानौ पक्षिद्वयरूपेण निरूप्य तयोः जीवात्मरूपी पक्षी सर्वानपि भोगान् अनुभुङ्क्ते, अन्यस्तु साक्षिरूपेण एनं पश्यतीति सुष्ठु अनयैव पद्धत्या निरूपितमस्ति। श्वेताश्वेतरोपनिषद्यपि एष एव रूपकविधिः पुनः प्रयुक्तोऽस्ति।

कठोपनिषदि आचार्यः एतत् शरीरं रथं वक्ति। आत्मा अस्य रथस्य अधिकारी येन वियुक्तं रथं निश्चेष्टितं भवति। एवं बुद्धिः सारथिः, मनः, प्रग्रहः, इन्द्रियाण्यश्वाः इति च सांसारिकभोगानुभवः एव एतेषामिन्द्रियरूपाणामश्वानां गम्यस्थानाम्।

श्वेताश्वेतरोपनिषदि ब्रह्मणः चक्ररूपकरूपेण निरूपणमस्ति। ब्रह्मचक्रस्य नेमिः भवति। चक्रमेतत् उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपे मार्गत्रये भ्रमति। एवं शुभाशुभविषये निमित्तद्वये चक्रमेतत् चलति। किन्तु चक्रस्यास्य निरन्तरचलनस्य कारणं तु मोह एव।

वाकोवाक्यविधिरयं प्रत्यावर्तनविधिरिति व्यवह्रियते कैश्चित्। अन्यैः प्रतिगमनपद्धतिरिति नाम्नाऽपि व्यवहृता दृश्यते।विधेरस्य स्वरूपमेवं भवति। संवादेषु प्रश्नः एकः पृच्छति, तस्यैकं समाधानं प्राप्यते तदुत्तरमाधारीकृत्य पुनः प्रश्नः क्रियते। एवं रीत्या अन्तिमं स्पष्टं च ज्ञानं यावत् प्राप्यते, तावत् इयं परम्परा प्रचलत्येव। सम्पूर्णज्ञानम् अन्तिमोत्तरेण

भवति। ततः पश्चात् प्रश्नः न भवति। एवमन्यस्वापि उपनिषत्सु बहून्युदाहरणानि उपलभ्यन्ते-

“अथ हैनं गार्गी वाचकनवी प्रपच्छ, याज्ञवल्कयेति होवाच। यदि सर्वमप्स्वेतं च प्रोतं च, कस्मिन्न खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति।....... कस्मिन् खलु ओताश्च प्रोताश्चेति, स होवाच गार्गी। मातिप्राक्षीः मा ते मूर्धा व्यप्तवत्। अनति प्रश्न्यां वै देवतामति पृच्छसि गार्गीमातिप्राक्षीरिति। ततो हि गार्गी वाचक्नव्युपरराम।”

परोक्षविधिः अथवा परोक्षोपदेशविधिः उपनिषत्सु संदृश्यते एव। कोऽपि विषयः साक्षात् नोपदिश्य परोक्षरूपेण उपदिश्यते। विधेरस्य अयमेव मुख्यार्थः। सङ्केतात्मकशब्देन उपदेशो भवत्यत्र। उदाहरणार्थं **सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।**[२४]

विधावस्मिन् अधीतसामग्री क्रमबद्धप्रश्नमाध्यमेन प्रस्तूयते। प्रश्नस्यैकस्य उत्तरं द्वितीयप्रश्नस्य प्रवर्तको भवति।

तदेवं सुस्पष्टं भवति यत् उपनिषत्सु संवाद-कथा-सूत्र-दृष्टान्त-समाहार-प्रयोजन-आत्मोक्ति-एकाक्षर-अनुरूपता-अनुक्रमिक-संश्लेषणादिविधयः प्रतिपादिताः सन्ति।

---

[२४] छान्दोग्योपनिषद् ३.१४.१

वेदविमर्श
स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी और शङ्कराचार्य जी (पुरी)

श्री ओममुनि[१]

ब्यावर के गीता भवन में **सन् १९६८** में **शङ्कराचार्य निरंजन देव तीर्थ** पुरी के शङ्कराचार्य का चातुर्मास था। अगस्त मास की बात है कि शङ्कराचार्य जी ने अपने स्वभावानुसार अपने प्रवचन में यजुर्वेद के ३१वें अध्याय के १९वें मन्त्र पर प्रवचन देते हुए कहा कि - "स्वामी दयानन्द ने अपने यजुर्वेद के भाष्य का अर्थ करते हुए ईश्वर का गर्भ में आना व अवतार लेना लिखा है।" मन्त्र इस प्रकार है -

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

(यजु. ३१.१९)

प्रवचन में समाज के रामकृष्ण रावत एवं सूरजमल त्यागी भी

• सम्पादकीयम्- वेदों में अवतारवाद, यज्ञों में गोमांस की आहुति एवं आर्यों के मांसभक्षण आदि विषयों पर स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती एवं श्री शङ्कराचार्य (पुरी) के मध्य हुई चर्चा एवं पत्रव्यवहार का एक रोचक प्रसंग है। श्री ओममुनि के द्वारा उसका सप्रमाण विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

[१] **पूर्व मन्त्री, परोपकारिणी सभा, अजमेर (राजस्थान)**

उपस्थित थे। उन्होंने आर्यसमाज में आकर चर्चा की। आर्यसमाज ने उनके वक्तव्य का खण्डन करते हुए स्वामी दयानन्द के भाष्य व भावार्थ को लिख शङ्कराचार्य जी के पास भेजा।

उसके दो दिन तक शङ्कराचार्य के प्रवचन को लेकर आलोचना करते हुए स्वामी जी के भाष्य को स्पष्ट करते हुए कहा कि - 'जो बात स्वामी जी ने अपने भाष्य में लिखी है उससे ईश्वर का जन्म लेना व अवतार लेना कहीं सिद्ध नहीं होता है'।

उनके पश्चात् पण्डित सत्यानन्द जी वेदवागीश को बुलाया गया। उन्होंने भी १७ अगस्त में व्याख्यान दिया व शङ्कराचार्य को शास्त्रार्थ की चुनौती भी दी। उसके बाद भी उनका अनर्गल प्रलाप चलता रहा। आर्यसमाज की ओर से शास्त्रार्थ का निमंत्रण भी दिया गया। इस अवसर पर पं. भद्रसेन जी, पं. सत्यानन्द जी, पं. क्षितीश वेदालङ्कार जी व गुरुकुल चित्तौड़ के आचार्य यज्ञदेव जी भी उपस्थित थे। इनके अतिरिक्त सार्वदेशिक सभा में श्री रामगोपाल जी शालवाले से सम्पर्क कर उन्हें भी ब्यावर बुलाया गया।

ब्यावर में शालवाले जी के साथ दिल्ली से पं. भारतेन्द्रनाथ जी भी आये थे। वे शङ्कराचार्य से मिले व स्वामी जी से भी मिले और उसी दिन दिल्ली लौट गये। आर्यसमाज की ओर से व्याख्यानों में प्रतिदिन चुनौती दी जाती थी। ये विद्वान् निरञ्जन देव जी के व्याख्यानों का खण्डन करते रहे व बाद में लिखित में शास्त्रार्थ का चैलेंज उनके निवास स्थान गीता भवन में भेजा गया जो निम्न प्रकार है :-

आर्य समाज ब्यावर, दिनांक - ११.०८.१९६८

आदरणीय श्री शंकराचार्य जी महाराज,

आपके प्रवचनों द्वारा जन साधारण में देश और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का भान हो रहा और इसके साथ ही राष्ट्रीय विचारों में एकता उत्पन्न होकर राष्ट्रोत्थान के प्रति जागरूकता दिखाई पड़ रही है, यह समाज के लिये शुभ है। परन्तु आपके प्रवचनों में महर्षि दयानन्द के प्रतिपादित सिद्धान्तों के विपरीत परमेश्वर की साकारता, अवतारवाद और मूर्तिपूजा आदि का प्रतिपादन महर्षि के ग्रन्थों से किया जाता है, वह महर्षि के अभिप्राय के सर्वथा विपरीत है। यह आप भी जानते हैं।

इस विषय पर यदि कहीं किसी प्रकार की आपत्ति है तो इस बात पर है कि वक्ता के अभिप्राय को समझकर भी उसके विचारों को अन्यथा रूप में कहा या प्रस्तुत किया जाए।

आर्यसमाज सिद्धांत रूप से ईश्वर की साकारता, मूर्तिपूजा व अवतारवाद को नहीं मानता है और यदि कोई विद्वान् इन विषयों पर आर्य समाज के प्रवर्तक के शब्दों को उनके मन्तव्यों के विपरीत कहना चाहता है तो वह वैदिक धर्मावलम्बियों को प्रभावित करता है।

शास्त्रार्थ करने का यह समय नहीं है, परन्तु आपके द्वारा किये जा रहे प्रवचनों में जिस प्रकार विचारों को रखा जा रहा है उससे हमें यह अनुरोध करने पर विवश होना पड़ रहा है कि उपर्युक्त विषयों पर सार्वजनिक रूप से विचार कर लिया जाए।

ओम प्रकाश बजारी

मंत्री

आर्य समाज, ब्यावर

इस पत्र का उत्तर इस प्रकार से दिया गया :-

श्री सनातन धर्म सत्संग सभा, ब्यावर (राज.)

अध्यक्ष

जगन्नाथ मालपानी

मंत्री

दयाशंकर शास्त्री

श्री बजारी जी

नारायण स्मरण।

अनन्त श्री चरणों के नाम का दिनांक ११.०८.१९६८ का आपका पत्र मिला, श्री चरणों की आज्ञा हुई, आपका यह पत्र सर्वथा अविचारणीय है। कारण प्रथम तो पत्र-व्यवहार द्वारा बात तय नहीं होने पर आपको जनता में पर्चेबाजी नहीं करनी चाहिये थी। किन्तु आपने पर्चेबाजी पहले की और वह भी मानवोचित शिष्टाचार-विरुद्ध भाषा में, अत: अब आपका पत्र-व्यवहार करना कोई अर्थ नहीं रखता।

ह. मूलशङ्कर जोशी

सचिव श्रीचरणम्

इस प्रकार शास्त्रार्थ की चर्चा समाप्त हो गई, क्योंकि शङ्कराचार्य जी ने शास्त्रार्थ करने से मना कर दिया। शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में स्वामी समर्पणानन्द जी को पत्र भेजा हुआ था। वे उस समय हिमाचल प्रदेश में थे। ज्यों ही उनको शास्त्रार्थ के समाचार मिले वे तुरन्त ब्यावर पधार गये। स्वामी जी महाराज को लेने हम लोग रेलवे स्टेशन पर पहुँचे थे। स्वामी जी महाराज से जब आर्यसमाज के लोगों ने पूछा कि आप कब तक रहेंगे? तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि - 'यह बात तो शंकराचार्य जी से पूछो। मैं उनके जाने के एक दिन बाद जाऊँगा'। स्वामी जी महाराज के

प्रतिदिन प्रवचन प्रारम्भ हो गये। प्रात:काल आर्यसमाज मंदिर में व सायंकाल वर्तमान में दयानन्द आर्य बालिका महाविद्यालय (बैंक का नोहरा) में व्याख्यान होते थे। प्रात:काल वर्णाश्रम धर्म पर स्वामी जी महाराज के हृदयग्राही उपदेश चलते रहे व साथ ही शङ्कराचार्य के वक्तव्यों का भी खण्डन चलता रहा। जब निरंजन देव जी तीर्थ को स्वामी जी महाराज के प्रवचनों की जानकारी मिली तो वे घबरा गये। इस बीच स्वामी जी महाराज को प्रान्तीय गोरक्षा सम्मेलन का भी निमंत्रण प्राप्त हुआ। स्वामी जी महाराज ने सहर्ष उस निमंत्रण को स्वीकारा। गोरक्षा आन्दोलन को सफल बनाने के लिये श्री स्वामी जी महाराज के परामर्श से मंत्री, आर्य समाज ब्यावर ने दिनांक ०४.०९.१९६८ को मंत्री, राजस्थान प्रान्तीय गोरक्षा सम्मेलन के नाम एक पत्र लिखा जो इस प्रकार है।

दिनांक ०४.०९.१९६८

श्री जगन्नाथ जी शर्मा

मंत्री, राजस्थान प्रांतीय गोरक्षा सम्मेलन, ब्यावर।

स्वामी समर्पणानन्द जी के निर्देशानुसार आपकी सेवा में निवेदन है कि गोरक्षा के कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिये निम्न उपायों का अवलम्बन करना नितान्त आवश्यक है :-

१. गोरक्षा अभियान समिति के जहाँ कई अन्य विभाग हैं, वहाँ एक विभाग इस बात के लिए भी अवश्य बनाना चाहिये कि गोरक्षा संबंधी कानून को वोटों के द्वारा किस प्रकार निर्माण कराया जाय। इस दिशा में अब तक बिल्कुल कार्य नहीं हुआ, उसकी ओर पूरे वेग से और पूरी शक्ति से कार्य होना चाहिये। वह दिशा है :- शिक्षा विभाग का सुधार। हमारे विद्यालयों में और विश्वविद्यालयों में दिन-रात इस बात का

प्रचार किया जा रहा है कि प्राचीन आर्य लोग गो-मांस का यथेष्ट प्रयोग करते थे और गोरक्षा की भावना उनमें पीछे से पैदा हुई। इसके लिये अत्यन्त आवश्यक है कि एक पुस्तक शीघ्रातिशीघ्र ऐसी लिखी जाय, जिसमें उन सब विवादास्पद स्थलों का समाधान किया जाय, जिनसे योरोपियन वैदिक विद्वान् और उनके अनुयायी वेद में गो-मांस भक्षण का प्रतिपादन करते हैं। यदि यह समाधान आर्यसमाज तथा सनातन धर्म दोनों के विद्वानों की सम्मति से लिखा जाय तो बहुत ही अच्छा होगा। यदि यह संभव न हो तो उचित होगा, दोनों प्रकार के विद्वान् इन शङ्काओं का किस प्रकार समाधान करते हैं, यह विरोधी पक्ष के भली-भाँति सामने आ जाय, जिससे हमारे देश के नवयुवकों को मार्गभ्रष्ट न किया जा सके।

बहुत अच्छा हो यदि सम्मेलन से पहले इस प्रकार के दो व्याख्यान ब्यावर में ही हो जायें। एक सर्वसाधारण के सामने और दूसरा स्थानीय कालेज में। स्वामी समर्पणानन्द जी इस कार्य में अपना पूर्ण सहयोग देने के लिये तैयार है। यदि स्वामी शङ्कराचार्य जी भी इसमें सहयोग दान दें तो गोमाता की बड़ी भारी सेवा होगी। यदि किन्हीं कारणों से यह संभव न हो तो इस प्रकार की पुस्तक का लिखा जाना तो अत्यन्त आवश्यक है, और यदि ऐसी पुस्तक न लिखी गई तो हमारा सारा कार्य अधूरा रह जायेगा। आशा है आप इन सुझावों की ओर पूर्णतया ध्यान देंगे।

धन्यवाद

भवदीय

मंत्री, आर्य समाज ब्यावर

स्वामी जी गोरक्षा पर भी व्याख्यानों में चर्चा करते थे और अकाट्य

तर्क देते थे। हजारों लोग सुनने आते थे। स्वामी जी ने एक दिन चर्चा में विदेशी लोगों मुसलमान व ईसाइयों की चर्चा करते हुए कहा कि वे कहते हैं वेद में यज्ञों में गोमांस डालने की चर्चा है। हम आपस में बैठकर इसका उत्तर दें। एक पुस्तक लिखें जिसमें चारों शङ्कराचार्यों के हस्ताक्षर हों, आर्य समाज के विद्वानों के भी हस्ताक्षर हों। इस बार एक दिन शङ्कराचार्य जी सायंकाल आर्य-समाज के कार्यक्रम में आए। उस दिन क्षितीश जी वेदालङ्कार व गुरुकुल चित्तौड़ के आचार्य यज्ञदेव जी भी आए हुए थे। उस दिन स्वामी जी महाराज ने अपने प्रवचन में विदेशी विद्वानों एवं ईसाई मुसलमानों द्वारा गोमांस यज्ञों में डालने की बात का वेद में वर्णन है, वे ऐसा कहते हैं इसका हमें क्या जवाब देना चाहिये। इसके साथ ही स्वामी जी महाराज ने एक मंत्र उपस्थित करते हुए कहा कि इससे विदेशी विद्वान् गोमांसभक्षण सिद्ध करते हैं। इसी क्रम में बैल के पर्यायों पर चर्चा करते हुए उन्होंने बैल के पर्याय **'पुंगव'** शब्द का प्रयोग किया। कहा भी कि इसका अर्थ बैल होता है। आप बताएँ कि उनके मांसभक्षण के आरोपों का हम क्या जवाब दें। इस पर शङ्कराचार्य जी क्रोध में आकर कहने लगे कि **पुंगव** का अर्थ बैल नहीं, श्रेष्ठ है। यदि संस्कृत साहित्य में और अमरकोष में आप पुंगव का अर्थ बैल बता दें तो मैं गद्दी छोड़ दूंगा। इस प्रकार पुंगव का अर्थ उन्होंने श्रेष्ठ बताया। इस पर स्वामी जी महाराज ने कहा कि उत्तरपद प्रधान विशेषण के रूप में पुंगव शब्द का प्रयोग हो तो श्रेष्ठ होता है जैसे - **नर पुंगव** इत्यादि। ऐसा कहते हुए स्वामी महाराज ने कहा कि हम आपकी गद्दी छुड़वाने की बात नहीं कहते और ना ही गद्दी छुड़वाना चाहते हैं। हम तो यह चाहते हैं कि उन लोगों को हम सही उत्तर दें जो गोमांस की बात वेद में बताते हैं। काफी नाराज होकर, जैसी उनकी

मैदान छोड़ने की आदत थी वे अपने भक्तों सहित उठ कर चले गये।

शहर में बच्चों में ये नारे लगने लग गये कि **"भाग शङ्कर पुंगव आया"।**

स्वामी जी यद्यपि बुखार में थे, फिर भी उन्होंने एक घण्टे तक व्याख्यान दिया और वेदमंत्रों की सम्यक् व्याख्या करते हुए सिद्ध किया कि वेद में गोमांस-भक्षण का संकेत बिल्कुल नहीं।

गोरक्षा सम्मेलन -

तत्पश्चात् शङ्कराचार्य जी ने ब्यावर में ही राजस्थान प्रदेश का **गोरक्षा सम्मेलन** बुलाया था। इस सम्मेलन में स्वामी जी महाराज को भी निमंत्रण दिया था। जिसे स्वामी जी महाराज ने सहर्ष स्वीकार कर लिया था। बड़ी संख्या में लोग सम्मेलन में आए थे। सम्मेलन से पूर्व शोभायात्रा निकली थी। जिसमें स्वामी जी महाराज भी पधारे थे।

सम्मेलन के प्रारम्भ में विद्वानों का व साधु-संन्यासियों का माल्यार्पण से स्वागत किया गया। स्वागतार्थ जब स्वामी जी महाराज को माला पहनाने के लिये बोला गया तो स्वामी जी महाराज ने माला पहनने से यह कहकर मना कर दिया कि- **"न तो मैंने गोरक्षा की है और न ही गोरक्षा हुई है अतः माला किस उपलक्ष्य में?"** इस पर शङ्कराचार्य जी ने कहा- **"गोरक्षा तो हमने की है"**, इस पर स्वामी जी महाराज ने कहा कि- **"हाँ, इन्होंने की है इन्हीं को माला पहनावें।"**

स्वामी जी को बोलने का समय केवल पन्द्रह मिनट का दिया गया था। उतने समय में ही स्वामी जी महाराज ने जो व्याख्यान दिया सम्मेलन में बैठे सभी लोग झूमने लग गये। इसी १५ मिनट में १७ बार तालियों की भी गड़गड़ाहट हुई। लोग कहने लगे कि ऐसा भाषण हमने कभी नहीं

सुना।

स्वामी जी ब्यावर में लगभग २४ दिन ठहरे थे। मैं स्वामी जी के कमरे के बाहर ही सोता था। स्वामी जी सङ्ग्रहणी की बीमारी के कारण रात्रि में कई बार उठते थे। मैं उनके हाथ धुलवा देता था। स्वामी जी महाराज के व्याख्यानों की ब्यावर में धूम मची रही। लोग कहते थे ऐसा अद्भुत विद्वान् व ऐसे व्याख्यान हमने कभी नहीं देखा व नहीं सुने।

इस प्रकार स्वामी जी महाराज ब्यावर में श्री शङ्कराचार्य की उपस्थिति में ही आर्यसमाज की कीर्ति-पताका फहराते रहे। तत्पश्चात् जब शङ्कराचार्य जी ब्यावर से चले गए तो स्वामी जी महाराज ने ब्यावर के आर्य पुरुषों से कहा कि अब मुझे भी दिल्ली के गोरक्षा-सम्मेलन में भाग लेने जाना है, अतः मुझे अनुमति दें। चूँकि मेरी प्रतिज्ञा थी कि श्री शङ्कराचार्य जी के ब्यावर से जाने के पश्चात् ही यहाँ जाऊँगा, तो वह प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। आर्यजनों को और भी प्रेरणाप्रद उपदेश उन्होंने दिए।

स्वामी जी महाराज की विद्वत्ता, वाग्मिता और जनाकर्षक व्याख्यान-शैली की धूम ब्यावर में ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण राजस्थान में मच गई थी। आर्यजन उन्हें और रोकना चाहते थे, परन्तु धर्मप्रचार की धुन के धनी वे एक स्थान पर कहाँ रुकने वाले थे। हाँ, अपने भाषणों में उन्होंने यह इच्छा कई बार व्यक्त की थी कि मैं शतपथ-ब्राह्मण का आर्यभाषा में भाष्य करना चाहता हूँ। अतः अब उन्होंने कहा कि यदि ब्यावर आर्यसमाज मेरी व्यवस्था कर दे, तो मैं यहीं रहकर शतपथ का भाष्य प्रारम्भ और पूर्ण कर दूँगा।

इससे बहुत वर्ष पूर्व जब वे पंडित बुद्धदेव ही थे, तब वे प्रवचनार्थ ब्यावर पधारे थे। ब्यावर आर्यसमाज के कोषाध्यक्ष बने श्री कुन्दनमल जी

सोमानी का यज्ञोपवीत संस्कार उन्होंने ही सम्पन्न कराया था। अब इस अवसर पर स्वामी जी की शतपथ-भाष्य की इच्छा को ध्यान में रख उन्हीं धर्मप्रिय श्रीमान् सोमानी जी ने इस कार्य के लिए स्वामी जी को दो हजार रुपए की राशि ससम्मान प्रदान की। कुछ अन्य आर्यजनों ने भी स्वशक्त्यानुसार राशि भेंट की। आर्य समाज ब्यावर की ओर से भी स्वामी जी के चरणों में प्रभूत दक्षिणा अर्पित की गई और इतनी पुष्पमालाएँ पहनाई गईं कि उनका गला ऊपर तक भर गया।

तत्पश्चात् आर्यसमाज के सभी पदाधिकारी व सदस्यगण स्वामी जी को विदा करने रेलवे स्टशन गए, उन्हें दिल्ली जाने वाली गाड़ी में बिठाया।

इस प्रकार स्वामी जी के मार्मिक, गूढ़ और शास्त्रीय प्रवचनों से युक्त यह प्रकरण समाप्त हुआ। पश्चात् किन्हीं आर्य सज्जन द्वारा निर्मित स्वामी जी का एक चित्र भी समाज-मन्दिर में लगाया था। स्वामी जी के प्रवचन सुनने वालों का कहना था कि शास्त्रों का ऐसा प्रामाणिक और उद्भट विद्वान् हमने जीवन में नहीं देखा, जिनके कण्ठ में सरस्वती का वास था -

नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः। ऋग्० १०.१४.१५

शांखायन ब्राह्मण में यज्ञ

अरविन्द कुमार भारद्वाज[१]

विजय बहादुर[२]

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं ऐतरेय ब्राह्मण तथा शांखायन ब्राह्मण। सामान्यतः शांखायन ब्राह्मण ही कौषीतकि ब्राह्मण माना जाता है। डॉ. गंगासागर राय के अनुसार – "ऋग्वेद से संबद्ध शांखायन और कौषीतकि दो पृथक् शाखायें हैं। शांखायन ब्राह्मण या कौषीतकि ब्राह्मण के विभिन्न मुद्रित-संस्करणों में कुछ खण्डों का भिन्नता दिखाई देती है, इसका एक सम्भव करण शाखा-जन्य-भेद या पाठान्तर हो सकता है। सभी विद्वान् कौषीतकि ब्राह्मण का रचना काल ऐतरेय ब्राह्मण के बाद ही स्वीकार करते है। कीथ ने शां. ब्रा. का रचना काल ईसापूर्व तीसरी और चौथी सदी से पहले माना है।[३] डॉ. गंगासागर राय ने शौनक, पाणिनि, यास्क और शाकल्य की रचनाओं से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर शां. ब्रा.

---

१ **शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ**

२ **शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ**

३ Rigveda Brahmanas: The Aitareya and Kauṣitaki Brahmans of the Rigveda, A.B. Keith, Harvard University Press, 1920 (भूमिका पृ. ४२)

का रचनाकाल ८वीं सदी ई.पू. सिद्ध किया है।[४]

शांखायन ब्राह्मण में यज्ञ का स्वरूप तथा महत्त्व – वस्तुतः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय यज्ञ अथवा याग अथवा इष्टि (हवन) ही है। शांखायन ब्राह्मण में भी यज्ञ के महत्त्व को बताने के लिए उसी धारा का अनुसरण किया गया है। इस ब्राह्मण में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म[५] कहा गया है तथा विभिन्न सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का साधन माना गया है।[६] यज्ञ की सृष्टि प्रजापति ने की तथा इसके माध्यम से देवताओं ने सभी कामनाओं को प्राप्त किया।[७] शांखायन ब्राह्मण में भिन्न-भिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न यज्ञों का वर्णन किया गया है। सभी कामनाओं की पूर्ति के लिये फाल्गुन पौर्णमासी से प्रारम्भ होने वाला दाक्षायण यज्ञ[८], पशु की कामना तथा भोज्यान्न की कामना वालों के लिये पौर्णमासी को होने वाला इडादध यज्ञ[९], प्रजा की कामना वालों के लिये पौर्णमासी को होने वाला सार्वसेनी यज्ञ[१०], शत्रुओं को नीचा दीखाने की कामना वालों के लिये पौर्णमासी को होने वाला शौनकयज्ञ[११], श्रेष्ठताकामी तथा पौरुषकामी के लिये अमावस्या की रात्रि को होने वाला

---

[४] शांखायन ब्राह्मण, डॉ. गंगासागर राय, रत्ना पब्लिकेशन, वाराणसी १९८७ (भूमिका पृ. ३४)

[५] यज्ञो वै भुवनेषु ज्येष्ठो (शां. ब्रा. - २५.११)

[६] तत्रैव - ४.१

[७] प्रजापतिर्हयज्ञंस्सृजे......यं यं काममैच्छंस्तं (तत्रैव - ६.१५), एवं, प्रजापतिर्हयज्ञं ससृजे तेन ह सृष्टेन देवा ईजिरे तेन हेष्ट्वा सर्वान्कामानापुस्तस्य.... (तत्रैव - २८.१)

[८] अथातो दाक्षायणयज्ञस्य दाक्षायणयज्ञेनैष्यन्फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते... (तत्रैव - ४.४)

[९] अथातः इळादधस्येळादधेनैष्यन्नेतस्यामेव पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते... (तत्रैव - ४.५)

[१०] अथातः सार्वसेनियज्ञस्य सार्वसेनियज्ञेनैष्यन्नेतस्यामेव पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते... (तत्रैव- ४.६)

[११] अथातः शौनकयज्ञस्य शौनकयज्ञेनैष्यन्नेतस्यामेव पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते... (तत्रैव - ४.७)

सांकप्रस्थाय्य यज्ञ[१२], अन्नाद्यकामी के लिये अमावस्या की रात्रि को होने वाला आग्रायण यज्ञ[१३], सभी प्रकार की कामनाओं के लिये पौर्णमासी की रात्रि से प्रारम्भ होने वाला मुन्ययन यज्ञ[१४] तथा स्वर्गकामी के लिये पौर्णमासी की रात्रि को होने वाला तुरायण यज्ञ उल्लेखनीय है। तुरायण यज्ञ के अन्तर्गत 'कृष्णाजिन' (कृष्णमृगचर्म) को निश्चय ही यज्ञ को ब्रह्म से संयुक्त करने वाला माना गया है तथा कृष्णाजिन ब्रह्म है ऐसा प्रतिपादन करते हुए तुरायण यज्ञ में कृष्णमृगचर्म के महत्त्व को उद्भासित किया गया है।[१५] सौदास (द्वेष करने वाले शत्रु) को परास्त करने, प्रजा तथा पशु की कामना वालों के लिये फाल्गुनी अमावस्या को होने वाले 'वसिष्ठ यज्ञ'[१६] का उल्लेख प्राप्त होता है। वसिष्ठ यज्ञ को 'क्षत्र' संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। ऋतुओं की सन्धि में पड़ने वाली फाल्गुन पौर्णमासी की रात्रि से प्रारम्भ होने वाले चातुर्मास्य यज्ञ[१७], इन्द्र से सम्बन्धित साकमेघ यज्ञ[१८], पितृयज्ञ[१९], तेरहवें मास (अधिक मास) में होने वाले शुनासीर्य यज्ञ[२०] के साथ-साथ अन्य महत्त्वपूर्ण यज्ञों का वर्णन शांखायन ब्राह्मण में प्राप्त होता है। राजसूय और अश्वमेघ यज्ञ का वर्णन

---

[१२] अथातः साकंप्रस्थाय्यस्य साकंप्रस्थाय्येनैष्यन्नेतस्यामेवामावास्यायां (तत्रैव - ४.९)

[१३] अथात आग्रयणस्य..... तस्मिन्कालेऽमावास्योपसंपद्येत.... (तत्रैव - ४.१२)

[१४] अथातो मुन्ययनस्य मुन्ययनेनैष्यन्नेतस्यामेव पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते... (तत्रैव - ४.१०)

[१५] अथातस्तुरायणस्य तुरायणयज्ञेनैष्यन्नेतस्यामेव पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते... ब्रह्मा वै कृष्णाजिनं... (तत्रैव - ४.११)

[१६] अथातो वसिष्ठयज्ञस्य वसिष्ठयज्ञेनैष्यन्फाल्गुन्याममावास्यायां प्रयुङ्क्ते... यज्ञः क्षत्त्रेण... (तत्रैव - ४.८)

[१७] अथातश्चतुर्मास्यानां... फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते... (तत्रैव - ५.१)

[१८] ऐन्द्रो वा एष यज्ञक्रतुर्यत्साकमेधास्तद्यथा... (तत्रैव -५.५)

[१९] अथ यदपराह्णे पितृयज्ञेन चरन्त्यपक्षयभाजो... (तत्रैव - ५.६)

[२०] त्रयोदशं वा एतं मासमाप्नोति यच्छुनासीर्येण यजत... (तत्रैव - ५.८)

शांखायन ब्राह्मण में प्राप्त नहीं होता है। इस ब्राह्मण का प्रमुख याग सोमयाग ही है, साथ ही साथ चतुष्टोम को स्तोमों में सर्वश्रेष्ठ कहते हुए इसके २१ प्रकार बताये गये हैं[२१] तथा चातुर्मास्य, अग्निष्टोम, षोडशी, दर्श और पौर्णमासी यज्ञों का वर्णन भी यथोचित स्थानों पर समुपलब्ध होता है। सोमयाग का वर्णन शांखायन ब्राह्मण में बहुत विस्तृत रूप से किया गया है। इस ब्राह्मण में सोमयाग के अन्तर्गत कैशिनी दीक्षा का वर्णन प्राप्त होता है, जहाँ यह कहा गया है कि जो श्रृद्धालु होकर यजन (यज्ञ) करता है उसका इष्ट क्षय नहीं होता।[२२]

ऐतरेय ब्राह्मण के समान शांखायन ब्राह्मण में भी यज्ञ को विष्णु का प्रतीक माना गया है।[२३] यज्ञ में विद्वानों की उपस्थिति का महत्त्व बताते हुये यह भी कहा गया है कि विद्वानों के आने पर यज्ञ आनन्दित होता है।[२४] वाक्[२५], वसिष्ट-प्रजापति[२६], घृत और सोम[२७] को यज्ञ का विस्तारक माना गया है। पूर्वमीमांसा के अनुसार यज्ञ से स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है जबकि शांखायन ब्राह्मण **स्वर्गो वै लोको यज्ञः**[२८] यज्ञ को ही स्वर्ग के रूप में ख्यापित करता है। यज्ञ काल में शान्ति तथा यजमान की औषधि

---

[२१] वैदिक साहित्य तथा संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, द्वितीय संस्करण १९५८ (पृ. ६३४)

[२२] अथातः कैशिनी दीक्षा... स यः श्रद्धानो यजते तस्येष्टं न क्षीयत... (शांखायन ब्राह्मण - ७.४)

[२३] यज्ञो वै विष्णु (तत्रैव - ४.२, १६.८, १८.८, १८.१४)

[२४] नन्दति ह वै यज्ञो विदुषा गच्छताऽयं... (तत्रैव - २७.१)

[२५] वाचायज्ञस्तायते... (तत्रैव - ७.९, १०.५, १५.१), वाचैव तत्सर्वतो यज्ञं तन्वत... (तत्रैव - २९.३)

[२६] प्रजापतिर्वै वसिष्ठः स तन्ता यज्ञस्य... (तत्रैव - २६.१५)

[२७] यज्ञस्तायते यद् धृतेन च सोमेन च... (तत्रैव - १६.५)

[२८] तत्रैव - १४.१

(कल्याण) के लिये स्वस्त्ययन[२९] का विधान बताया गया है। अरणियों[३०] (यज्ञकाष्ठ अथवा समिधाओं) को देवताओं का रथ कहा गया है, एक अन्य स्थल पर यज्ञ को ही देवताओं का रथ[३१] कहा है। यज्ञ करने के लिये उपयुक्त काल की मीमांसा करते हुए कौषीतकि आचार्य का मत प्रस्तुत किया गया है; कौषीतकी के अनुसार – "सांयकाल सूर्यास्त के बाद अन्धकार होने से पहले के समय में तथा प्रातः सूर्योदय से पहले अन्धकार हट जाने पर हवन करना चाहिये। यह देवताओं के पास जाने का समय है; उस काल से यज्ञ को आरम्भ कर मंगलपूर्वक स्वर्गलोक प्राप्त किया जाता है। जो इससे अन्य काल में अग्निहोत्र हवन करता है, श्याम और शबल (यम के दो कुत्ते) उसके अग्निहोत्र को फाड़ डालते हैं"।[३२] वे आहुतियाँ जिनमें वषट्कार या स्वाहाकार नहीं होता वे देवताओं को नहीं जाती हैं।[३३] सोमयाग के अन्तर्गत षोडशी कृत्य के विषय में कहा गया है कि जो षोडशी करते हैं वह समस्त (कामनाओं) की प्राप्ति करते हैं क्योंकि यह समस्त (चरचर जगत् अथवा ब्रह्माण्ड) सोलह (कलाओं अथवा भागों) का है।[३४] शांखायन ब्राह्मण में यज्ञ को विष्णु का प्रतीक तो माना ही गया है साथ ही साथ यहाँ यज्ञ के विषय में **यज्ञ उ वै प्रजापतिः**[३५]**, यज्ञ वा आपः**[३६]**, प्रजापतिर्वै यज्ञः**[३७]**, यज्ञो वै मैत्रावरुणः**[३८],

---

[२९] स्वस्त्ययनमेव तत्कुर्वते यज्ञस्यैव शान्त्यै यजमानस्य च भिषज्यायै... (तत्रैव - ५.९)

[३०] देवरथो वा अरण्ये... (तत्रैव - २.६)

[३१] देवरथो वा एष यद्यज्ञः...(तत्रैव - ७.७)

[३२] तदु ह स्माऽऽह कौषीतकिः ...... जुहोति श्यामशबलौ हास्याग्निहोत्रं...(तत्रैव - २.९)

[३३] न ह वै आहुतयो देवान्गच्छन्ति या आ वषट्कृता वा स्वाहा कृता...(तत्रैव -१२.४)

[३४] षोळशिनमुपयन्ति षोळशकलं वा इदं सर्वमस्यैव सर्वस्याऽऽप्त्या... (तत्रैव - १७.१,२२.९)

[३५] तत्रैव १०.१

पाङ्क्तो वै यज्ञः[३९], **यज्ञ उ वै प्रजापति विश्वजित्**[४०] ऐसा उल्लेख भी प्राप्त होता है। **पुरुषो वै यज्ञः** कह कर यज्ञ के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है – "उस (यज्ञ) के दोनों हविर्धान शिर हैं, आहवनीय मुख है, सदस् उदर है, उक्थ अन्न है, मार्जालीय और आग्नीध्रीय दोनों बाहु हैं, सदस् के अन्दर की दोनों वेदियाँ अन्तः देवता है; गार्हपत्य तथा व्रत के (दुग्ध) पकाने का अग्नि प्रतिष्ठा है। पुनः ब्रह्मा उसका मन है, उद्गाता प्राण है, प्रस्तोता अपान है, प्रतिहर्ता व्यान है, होता वाक् है, अध्वर्यु चक्षु है। सदस्य प्रजापति है, यजमान आत्मा है तथा होत्रांशसोगण अंग हैं।"[४१] इसी ब्राह्मण में एक अन्य स्थल पर अग्निष्टोम को भी यज्ञ का मुख[४२], होता को यज्ञ का आत्मा (शरीर) तथा सोम को यज्ञ का प्राण माना है।[४३]

इस प्रकार यज्ञ, यज्ञ के स्वरूप, विभिन्न यज्ञों के उद्देश्य, यजन करने के लिये अभीष्टकाल तथा यज्ञ के प्रकार आदि के विषय में शांखायन ब्राह्मण में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

---

[३६] तत्रैव - १२.१

[३७] तत्रैव - १३.१

[३८] तत्रैव - १३.२

[३९] तत्रैव - १९.४

[४०] तत्रैव - २५.११

[४१] पुरुषो वै यज्ञस्तस्य शिर एव ...... अङ्गानि होत्राशंसिनः... (तत्रैव - १७.७), पुरुषो वै यज्ञः (तत्रैव - २५.१२)

[४२] अग्निष्टोमो हि यज्ञानां मुखं... (तत्रैव - १९.८)

[४३] आत्मा वै यज्ञस्य होता प्राणः सोमः... (तत्रैव - ९.६)

प्रकाशक
स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१
अणुवाक्: pavamani८६@gmail.com